जवाब दीजिए

मैं खेलूं कहाँ?
मैं कूदूं कहाँ?
मैं गाऊँ कहाँ?
मैं किसके साथ बात करूँ?
बोलता हूँ, तो माँ को बुरा लगता है।
खेलता हूँ, तो पिताजी खीझते हैं।
कूदता हूँ, तो बैठ जाने को कहते हैं।
गाता हूँ, तो चुप रहने को कहते हैं।
अब आप कहिए कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?

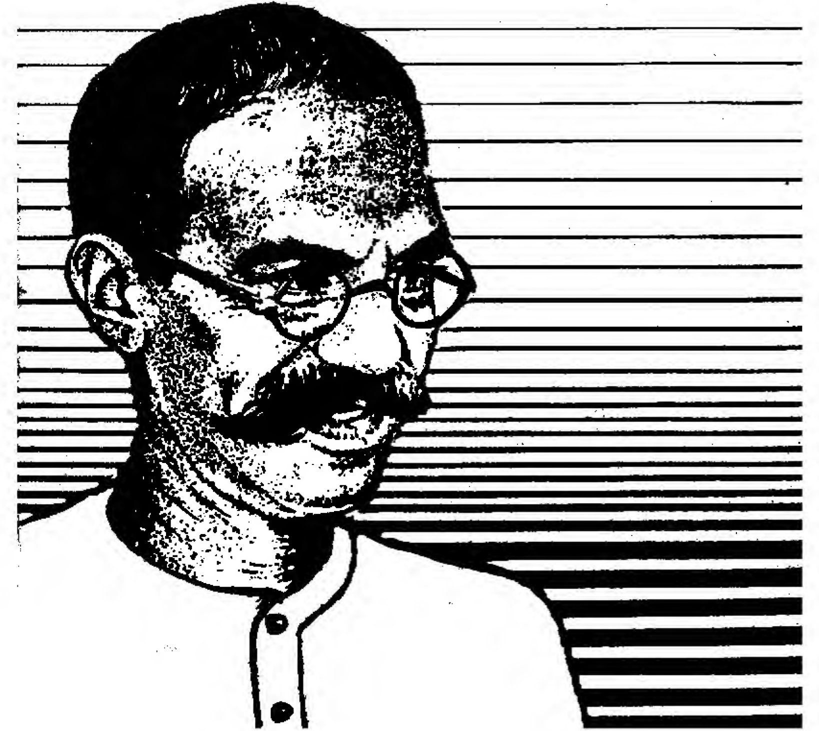
चैन कैसे पड़े?

जब तक बालक घरों में मार खाते हैं,
और विद्यालयों में गालियाँ खाते हैं,
तब तक मुझे चैन कैसे पड़े?
जब तक बालकों के लिए पाठशालाएँ, वाचनालय,
बाग-बगीचे और क्रीड़ांगण न बनें,
तब तक मुझे चैन कैसे पड़े?
जब तक बालकों को प्रेम और सम्मान नहीं मिलता,
तब तक मुझे चैन कैसे पड़े?

-गिजुभाई

दिवास्वप्न

गिजुभाई



दिवास्वप्न

लेखक
गिजुभाई

अनुवाद
काशिनाथ त्रिवेदी

दो शब्द

मुझको किसी ने कहा कि भारी-भरकम तात्त्विक लेखों के बजाय यदि मैं कथा-शैली में शैक्षिक विचारों को संजोऊं, तो ? मुझको प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली और फलस्वरूप यह 'दिवास्वप्न' रचा गया।

दिवास्वप्नों का मूल वास्तविक अनुभव हो, तो वे मिथ्या नहीं जाते। यह दिवास्वप्न मेरे जीवंत अनुभवों में से उपजा है, और मुझे विश्वास है कि प्राणवान, क्रियावान, निष्ठावान शिक्षक अपने लिए भी इसे वास्तविक स्वरूप प्रदान कर सकेंगे।

—गिजुभाई

3000, प्रतियाँ नवम्बर 1988.
आर्थिक सहयोग : नोराड
प्रकाशक :
उत्तर प्रदेश बाल कल्याण समिति
मोती महल, लखनऊ 226 001

मुद्रक : सुजित पटवर्धन
'मुद्रा' ३८३ नारायण पेठ, पुणे ३०.

तीस साल के बाद

ठीक तीस साल पहले स्वर्गीय आचार्य श्री गिजुभाई बधेका की दो पुस्तकों का गुजराती से हिन्दी अनुवाद करने का संकल्प मेरे मन में उठा था। श्री दक्षिणामूर्ति-प्रकाशन की गुजराती रचनाओं पर आधारित एक पुस्तक 'विद्यार्थी और शिक्षक' के नाम से मैंने सबसे पहले सन् 1932 में निकाली। उस समय हिन्दी में वह अपने ढंग की पहली पुस्तक सिद्ध हुई। उसके तुरन्त बाद स्व. श्री गिजुभाई की 'दिवास्वप्न' नामक एक अनूठी शैक्षणिक कहानी का हिन्दी अनुवाद मैंने स्वयं इन्दौर से निकाला। फिर मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर ने सन्'34 में 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' प्रकाशित की। उन दिनों ये तीनों पुस्तकें जल्दी ही हिन्दी में अपना स्थान बना सकी थीं। किन्तु बाद में कई कारणों से इनको फिर छपाने का सुयोग नहीं मिला। प्रकाशकों की माँग रहती थी कि कहीं पाठ्यपुस्तक के रूप में लगवा दो, तो छापें। मेरी भावना इसके विपरीत थी। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में जो मौलिक चिन्तन हुआ था, जिसमें पाठ्यपुस्तक का स्पष्ट निषेध था, उसकी प्रेरक सामग्री को पाठ्यपुस्तक बना देने से उसकी सारी प्रेरणा और सन्देश ही समाप्त हो जाता। इन 28–30 वर्षों में मेरी अपनी स्थिति ऐसी नहीं रही कि मैं स्वयं इन्हें अपने खर्च से छपा पाता। इधर-उधर से इनकी माँगें प्राय: आया करती थीं; पर पिछले कोई 25 वर्षों से ये तीनों पुस्तकें लगभग अप्राप्य रहीं। इस बार नवजीवन-ट्रस्ट के व्यवस्थापक आदरणीय श्री जीवणजी भाई देसाई के उदार सहयोग से 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' और 'दिवास्वप्न' को दूसरी बार छपाने का सुयोग मिल गया। इसके लिए मैं उनका और नवजीवन-परिवार का बहुत ही आभारी हूँ। बड़ी तत्परता से उन्होंने इनकी छपाई की अनुकूलता कर दी।

यद्यपि लगभग तीस वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा,' दोनों आज भी उतनी ही ताजी, उतनी ही प्रेरक और मार्गदर्शक हैं, जितनी 30–35 साल पहले थीं। प्राथमिक पाठशालाओं की पढ़ाई में जो भारी दोष आ घुसे हैं, उनकी ओर इशारा करके उसके रूप-स्वरूप को बदलने की अत्यन्त मूलगामी, मूल्यवान और व्यावहारिक सूचनायें इन दोनों मौलिक पुस्तकों में भरी पड़ी हैं। इन पुस्तकों के अध्ययन, अनुशीलन और अनुसरण से नई पीढ़ी के उत्साही और निष्ठावान शिक्षक भाई-बहनों को अपनी शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने की स्वस्थ और सबल प्रेरणा मिल सकेगी। इसी एक विचार से प्रेरित होकर मैंने इन्हें फिर छपाने का साहस किया है। आशा है, नई पीढ़ी के शिक्षक, शिक्षाधिकारी और शिक्षा-संस्थाओं के कर्ता-धर्ता इन दोनों पुस्तकों को अपनाकर इनसे भरपूर लाभ उठायेंगे।

नवजीवन, अहमदाबाद–14 | काशिनाथ त्रिवेदी
20–11–62



प्रथम खण्ड

प्रयोग का आरम्भ

: १ :

मैंने पढ़ा और सोचा तो बहुत-कुछ था, परन्तु मुझे अनुभव न था। मैंने सोचा, मुझे स्वयं अनुभव भी करना चाहिए। तभी मेरे विचार पक्के बनेंगे। तभी यह मालूम होगा कि मेरी आज की कल्पना में कितनी सचाई और कितना खोखलापन है।

मैं शिक्षा-विभाग के बड़े अधिकारी के पास गया और उनसे मैंने प्रार्थना की कि वे मुझे प्राथमिक पाठशाला की एक कक्षा सौंप दें।

अधिकारी जरा हँसे और बोले—'रहने भी दो भाई! यह काम तुमसे नहीं बनेगा। लड़कों को पढ़ाना और सो भी प्राथमिक पाठशाला के लड़कों को, ऐसा काम है, जिसमें एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है। तुम तो लेखक और विचारक ठहरे। मेज़ पर बैठकर लेख लिखना सरल है और कल्पना में पढ़ा देना भी सरल है, कठिन है केवल प्रत्यक्ष काम करना और उसे पार उतारना।'

मैंने कहा—'इसीलिए तो मैं स्वयं अनुभव करना चाहता हूँ। अपनी कल्पना में मुझे वास्तविकता लानी है।'

अधिकारी ने कहा—'अच्छा, यदि तुम्हारा आग्रह ही है, तो खुशी से एक साल तक अनुभव करो। प्राथमिक पाठशाला की चौथी कक्षा मैं तुम्हें सौंपता हूँ। यह उसका पाठ्यक्रम है, ये उसमें चलने वाली कुछ पाठ्यपुस्तकें हैं, और ये शिक्षा-विभाग की छुट्टी आदि के कुछ नियम हैं।'

मैंने आदर की दृष्टि से उन सब चीज़ों को देखा। पाठ्यक्रम हाथ में लेकर जेब में रखा और पाठ्यपुस्तकों को एक डोरी से बाँधने लगा।

साहब ने कहा—'देखो, जैसे चाहो वैसे प्रयोग करने की स्वतन्त्रता तो तुम्हें है ही; इसके लिए तो तुम आये ही हो। लेकिन यह भी ध्यान में रखना कि बारहवें महीने में परीक्षा आकर खड़ी रहेगी और तुम्हारा काम परीक्षा की माप से मापा जायेगा।'

मैंने कहा—'क़बूल है। लेकिन मेरी एक अर्ज़ है, परीक्षक आप खुद ही रहियेगा। स्वयं आप ही को मेरे काम का अन्दाज़ा लगाना पड़ेगा। प्रयोग करने की स्वतंत्रता आप दे रहे हैं, तो आप ही को अपना काम दिखाकर मैं सन्तोष भी मानूँगा। आप ही मेरी सफलता-निष्फलता के कारण समझ भी सकेंगे।'

अधिकारी महोदय ने हँसकर स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया और मैं कार्यालय से बाहर निकल आया।

: २ :

मैं सारा पाठ्यक्रम देख चुका था। मुझे विश्वास हो गया था कि कई हेर-फेर किये जा सकेंगे। पाठ्यपुस्तकों को भी मैं एक नज़र देख गया। गुण-दोष आँखों के सामने तैरने लगे। क्या-क्या सुधार हो सकेंगे, सो भी सोच लिया। मन में मानो पहले दिन से आख़िरी दिन तक के काम का एक चित्र खड़ा हो गया। परीक्षा

और उसके परिणाम के दिन की भी मैंने कल्पना कर ली और इन बातों के मनसूबे भी बँध गये कि सारा साल इस तरह काम चलेगा, ऐसा काम होगा और यह परिणाम आयेगा। विचारों ही विचारों में रात के दो कब बज गये, पता न चला। आख़िर अगले दिन के कार्यक्रम को क़ागज पर टीपकर तीन बजते-बजते मैं सो गया।

सबेरा हुआ। उत्साह था, श्रद्धा थी, वेग था। नहा-धोकर, अल्पाहार करके मैं ठीक समय पर तीसरे नम्बर की पाठशाला में जा पहुँचा। अभी शाला खुली नहीं थी। हमारे प्रधानाध्यापक भी नहीं आये थे। चपड़ासी उनके घर चाबी लेने गया था। लड़कों का आना-जाना शुरू था और सड़क पर उनकी दौड़-धूप मची हुई थी।

मैं सोच रहा था—कब पाठशाला खुले और कब कक्षा को सम्हाल कर काम शुरू करूँ? कब अपनी नई योजनायें पेश करूँ? कब व्यवस्था और शान्ति दाखिल करूँ? कब रसिक रीति से पाठ समझाऊँ? और कब छात्रों के मन हर लूँ? उस समय शायद मेरे दिमाग़ में खून बड़ी तेज़ी से चक्कर काट रहा होगा!

घण्टी बजी। लड़के कक्षा में आकर बैठे और प्रधानाध्यापक ने मेरे साथ आकर मुझे मेरी कक्षा दिखाई और लड़कों से कहा—'देखो, ये महाशय लक्ष्मीशंकर आज से तुम्हारे शिक्षक हैं। ये कहें, वैसा ही करना। इनकी आज्ञा मानना। देखना, कोई ऊधम न मचाना।'

प्रधानाध्यापक बोल रहे थे और इधर मैं अपने अगले बारह महीनों के साथियों के सामने देख रहा था। कोई मुस्कराया, किसी ने तिरछी निगाह करके आँख मारी, किसी ने ऐंठ के साथ सिर हिलाया, कुछ मेरे सामने आश्चर्य और मज़ाक की नज़र से देखते रहे और कुछ भौंचक खड़े रहे।

मैंने देखा कि इन लड़कों को मुझे पढ़ाना था ! इन मसखरे, ऊधमी, ऐंठबाज और चित्र-विचित्र लड़कों को ! मन थोड़ा शह तो खा गया, थोड़ी छाती भी धड़क गई, लेकिन सोचा—परवाह नहीं, धीरे-धीरे देख लूँगा ।

मैंने रात टीपी हुई बातें जेब से निकाल कर देख लीं । लिखा था :—पहले शान्ति का खेल, फिर कक्षा की सफ़ाई की जाँच, फिर सहगान, फिर वार्त्तालाप आदि ।

मैंने लड़कों से कहा—'आओ, हम शान्ति का खेल खेलें । देखो, मैं 'ॐ शान्तिः' कहूँ, तब सब चुपचाप बैठ जाना । बराबर पलथी मारकर बैठना । देखना, कोई हिलना-डुलना तक नहीं । फिर मैं दरवाजे बन्द करूँगा और अँधेरा होगा । तुम सब शान्त रहना । तुम्हें आसपास का कोलाहल सुनाई देगा । उसे सुनने में बड़ा मजा आयेगा । तुम्हें मक्खियों की भिनभिनाहट सुनाई पड़ेगी । तुम्हें अपना श्वासोच्छ्वास भी सुनाई पड़ेगा । फिर मैं गाऊँगा और तुम सुनना ।'

इतना कह चुकने के बाद मैंने शान्ति का खेल शुरू किया । मैं 'ॐ शान्तिः' बोला, लेकिन लड़के तो धक्का-मुक्की में और बातों में लगे थे । दो-चार बार बोला, लेकिन मानो हवा ही में न बोलता होऊँ । मैं मन में सकपकाया । यह तो कैसे कहता कि 'चुप रहो ! गड़बड़ न करो !' तमाचा मारकर डराता भी कैसे ? खैर, मैं आगे बढ़ा और खिड़कियाँ बन्द कीं । अँधेरा हुआ और ध्यान (?) चला । लड़कों में से कोई 'ऊँ-ऊँ' करने लगा, कोई 'हाऊ-हाऊ' करने लगा, तो कोई 'धम-धम' पैर पछाड़ने लगा । इतने में एक ने ताली बजाई और सब ताली बजाने लगे । फिर कोई हँसा और हँसी उड़ने लगी । मैं खिसिया गया । मुँह मेरा फीका पड़ गया । मैंने खिड़कियाँ खोल दीं और थोड़ी देर कमरे के बाहर जाकर वापस

आया । सारी कक्षा ऊधम मचाने में लगी थी । लड़के एक-दूसरे से 'ॐ शान्तिः' कह रहे थे । कुछ खड़े होकर खुद ही खिड़कियाँ बन्द कर रहे थे ।

मैंने सोचा—मेरे ये नोट्स तो बेकार हैं । घर में बैठे-बैठे 'नोट्स' लिखकर कल्पना में पढ़ा देना सहल था, लेकिन यह तो लोहे के चने चबाना है । जो अब तक कोलाहल और ऊधम में पले हुए हैं, उनके सामने शान्ति का खेल अभी तो भैंस के सामने भागवत पढ़ने के समान है । लेकिन चिन्ता नहीं । अच्छा ही हुआ कि पहले ही कौर में यह मक्खी आ गई । कल से अब नया आरम्भ करूँगा ।

मैं कक्षा में आया और लड़कों से कहा—'भाइयो, आज अब अधिक काम नहीं करेंगे । अब कल से अपना नया काम शुरू होगा । आज तुम छुट्टी मनाओ ।'

'छुट्टी' शब्द सुनते ही लड़के 'हो-हो' करके कमरे से बाहर निकले और सारे मदरसे में खलबली मच गई । वातावरण सारा 'छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी' से गूंज उठा ! लड़के उछलते-कूदते और छलाँगें भरते घर की तरफ़ भागने लगे ।

पड़ोस के शिक्षक और विद्यार्थी ताकते रह गये । 'यह क्या है ?' प्रधानाध्यापक एकदम मेरे पास आये और ज़रा भौंहें तान-कर बोले—'आपने इन्हें छुट्टी कैसे दे दी ? अभी तो दो घण्टों की देर है ।'

मैंने कहा — 'जी, लड़के आज अभिमुख न थे । वे आज अव्यवस्थित भी थे । शान्ति के खेल में मैंने यह अनुभव किया था ।'

प्रधानाध्यापक ने कड़ी आवाज़ में कहा—'लेकिन इस तरह आप बग़ैर पूछे छुट्टी नहीं दे सकते । एक कक्षा के लड़के घर जाएं तो दूसरे पढ़ेंगे कसे ? आपके ये प्रयोग यहाँ नहीं चल सकेंगे ।'

उन्होंने ज़रा रोष में आकर फिर कहा—'आपकी यह अभि-मुखता-फभिमुखता जाने दीजिये। शान्ति का खेल तो होता है मोण्टीसोरी शाला में। यहाँ प्राथमिक पाठशाला में तो चट तमाचा मारा नहीं और पट सब चुप हुए नहीं! और फिर नियमानुसार सब पढ़ते-पढ़ाते हैं। आप भी उसी तरह पढ़ायेंगे, तो बाहर महीनों में परिणाम नज़र आएगा। आज का दिन तो यों ही गया और उल्लू बने, सो घाते में।'

मुझे अपने प्रधानाध्यापक पर दया आई। मैंने कहा—'साहब, तमाचा मारकर पढ़ाने का काम तो दूसरे सब कर ही रहे हैं और उसका फल मैं तो यह देख रहा हूँ कि लड़के बेहद असभ्य, जंगली, अशान्त और अव्यवस्थित हैं। मैं तो यह भी देख सका हूँ कि इन चार वर्षों की शिक्षा में लड़के मानो यही सीखे हैं, 'हा, हा' 'हू, हू' और तालियाँ बजाना! उन्हें अपनी पाठशाला से प्रेम तो है ही नहीं। छुट्टी का नाम सुना नहीं कि उछलते-कूदते भाग गये!'

प्रधानाध्यापक बोले—'तो अब आप क्या करते हैं, हम देख लेंगे।'

मैं धीमे पैरों और बैठे दिल से घर लौटा। लेटे-लेटे विचार करने लगा—भई, काम तो मुश्किल है! लेकिन इसी में तो मेरी सच्ची परीक्षा है। चिन्ता नहीं। हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। इस तरह कहीं 'शान्ति का खेल' होता है? मोण्टीसोरी-पद्धति में इसके लिए पहले से कितनी तालीम दी जाती है? मैं भी थोड़ा मूर्ख तो हूँ ही कि पहले ही दिन यह काम शुरू कर दिया! पहले मुझे उन लोगों से थोड़ा परिचय बढ़ाना चाहिए। मेरे लिये उनके दिल में कुछ प्रेम और रस पैदा होना चाहिए। तब कहीं वे मेरा कहना कुछ सुनें और करेंगे। जहाँ पाठशाला नहीं, बल्कि छुट्टी प्यारी है, वहाँ काम करने के मानी हैं भगीरथ का गंगा को लाना!

दूसरे दिन के काम की बात ठहराई और मैं सो गया। रात तो आज के और अगले दिन के काम के सपने देखने में ही बीत गई!

: ३ :

पाठशाला खुली और मैं कक्षा में गया। लड़के मुझे घेर कर खड़े हो गये और मौज में आकर, मज़ाकिया तौर पर, लेकिन बिना डरे, कहने लगे—'मास्टर साहब, आज भी छुट्टी दीजिये न? आज भी, छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी!'

मैंने कहा—'अच्छी बात है, छुट्टी तो आज भी दूंगा। लेकिन सारे दिन की नहीं, दो घण्टों की। पहले ठहरो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। तुम सब सुनो। बाद में हम दूसरी बातें करेंगे।'

मैंने तुरन्त ही कहानी शुरू की।

एक था राजा, उसके थीं सात रानियाँ! सातों के सात कुँवर और सातों के सात राजकुमारियाँ!'

गड़बड़-गड़बड़ और हो-हल्ला मचाते हुए सब लड़के मुझे घेर कर बैठ गये। मैं कहानी कहते-कहते ज़रा रुका और बोला—'देखो सब अच्छी तरह बैठो। यों तो काम न चलेगा।'

सब कुछ-कुछ ठीक बैठ गये और कहने लगे—'तो झट कहानी कहिये न? झट कहिये, आगे क्या हुआ?'

मैंने मुस्कराते हुए शुरू किया:

'उन सातों राजकुमारियों के सात-सात महल, और महल-महल में सात-सात मोती के झाड़!'

लड़के तो फटी आँखों कहानी सुनने लगे। सारी कक्षा में सन्नाटा था। न कोई बोलता था, न चालता था। प्रधानाध्यापक ने

सोचा होगा, आज इस कक्षा में इतनी अधिक शान्ति क्यों है ? बस, वे कक्षा में आ धमके। मुझसे बोले—'कहिये, कहानी सुना रहे हैं ?'

मैंने कहा—'जी, हाँ। कहानी और यह नये प्रकार का शान्ति का खेल, दोनों साथ-साथ चल रहे हैं।'

प्रधानाध्यापक वापस लौट गये। मेरी कहानी चल रही थी। उधर आसपास की कक्षाओं में बड़ा कोलाहल हो रहा था। मैंने कहा—'देखो, आसपास कैसी गड़बड़ हो रही है ?' सब लड़कों ने उस कोलाहल के प्रति अपना तिरस्कार प्रकट किया।

कहानी आधी खत्म हुई और मैंने कहा—'बोलो भाइयो, छुट्टी चाहते हो, तो बन्द कर दूँ ! नहीं तो कहानी आगे चालू रखूं।'

सब बोले—'चालू, चालू ! हम छुट्टी नहीं चाहते।'

मैंने कहा—'अच्छी बात है, तो अब कहानी सुनो।' लेकिन, मैं बोला—'बीच में हम थोड़ी बातचीत कर लें। फिर घण्टी बजने तक मैं कहानी ही सुनाऊँगा।'

एक लड़का बोला—'नहीं, बातचीत कल कीजियेगा। झट कहानी कहिये कि पूरी हो।'

मैंने कहा—'कहानी तो इतनी लम्बी है कि चार दिन चलेगी।'

सब—'ओहो ! इतनी लम्बी ! तब तो बड़ा मज़ा आयेगा!'

मैंने जेब से रजिस्टर निकाला और नाम लिखना शुरू किया। सबने बारी-बारी से अपने नाम लिखवाये, पट-पट और झट-झट ! फिर मैंने हाजिरी ली और कहा—'देखो, अब से हम कहानी शुरू करने से पहले हाज़िरी भरेंगे, फिर कहानी कहेंगे।' इतना कहकर मैंने कहानी जो छेड़ी सो ठेठ घण्टी बजने तक।

समय पूरा हो चुका था, लेकिन लड़के तो कहते थे—'नहीं, अभी बैठिये और कहानी कहिये।'

मैंने कहा—'बस भाइयो, अब कल।' फिर पूछा—'कल छुट्टी या कहानी ?' सब बोले—'कहानी, कहानी, कहानी !' यह कहकर वे चले गये।

कल के 'छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी' शब्दों के बदले आज वातावरण में 'कहानी, कहानी, और कहानी' शब्द गूँज उठे !

मैंने सोचा—चलो, आज का दिन तो सुधरा ! यह सच है कि कहानी एक अजब जादू है और सवा सोलह आने सच है !

: ४ :

दूसरे दिन सबेरे सब लड़के मुस्कराते-मुस्कराते आये और मैं कक्षा में पहुँचा कि एक पर एक गिरते-पड़ते मुझे घेरकर बैठ गये। बोले—'चलिये, मास्टर साहब, अब कहानी कहिये।'

मैंने कहा—'पहले हाज़िरी, फिर थोड़ी बातचीत और फिर हमारी कहानी।'

जेब से खड़िया मिट्टी का टुकड़ा निकाल कर मैंने एक गोलाकार बनाया और कहा—'देखो, रोज़ इस पर आकर बैठा करना।' बैठकर दिखाते हुए कहा—'इस तरह। यह जगह मेरी। यहाँ बैठकर मैं कहानी कहूँगा।'

सब बैठ गये। मैं भी बैठा। हाजिरी ली और कहानी शुरू की। सब अभिमुख थे। कहानी छेड़ दी। मंत्रमुग्ध पुतलों की तरह सब सुन रहे थे। बीच में कहानी रोक कर मैंने कहा—'कहो, तुम्हें कहानी कैसी लग रही है ?'

'हमें तो कहानी बहुत अच्छी लग रही है।'

'जैसे तुम्हें कहानी सुनना पसन्द है, क्या वैसे ही कहानी पढ़ना भी पसन्द है ?'

'हाँ, हमें पढ़ना भी पसन्द है । लेकिन ऐसी किताबें मिलती कहाँ हैं ?'

'अगर मैं कहानी की ऐसी किताबें तुम्हें ला दूँ, तो तुम पढ़ोगे या नहीं ?'

'पढ़ेंगे, जरूर पढ़ेंगे !'

इतने में एक चतुर लड़का बोला—'लेकिन आपको कहानी कहनी तो होगी ही । अकेले हमें पढ़नी ही पड़े, सो नहीं ।'

मैंने कहा—'अच्छा ।' और कहानी आगे चलाई ।

घण्टी बजी और कहानी मेरी अटकी । सब मुझे घेरकर खड़े हो गये । कुछ तो मेरे सामने प्रेम से ताकने लगे । कुछ मेरे हाथ को धीरे-धीरे छूने और मन में मस्त होने लगे ।

मैंने कहा— जाओ, अब भाग जाओ । मदरसे से घर जाओ ।'

लड़के बोले—'जी, नहीं जाते । आप कहानी कहिये, हम शाम तक बैठेंगे ।'

लड़के गये और कुछ शिक्षक मेरे पास आये । कहने लगे—'भाई साहब, आपने तो खूब की । अब हमारी कक्षा के लड़के भी कहानी चाहते हैं । आजकल वे पढ़ने में ध्यान ही नहीं रखते । बार-बार यही कहते हैं, हम तो कहानी सुनने जाएंगे, नहीं तो आप ही कहानी कहिये ।'

मैंने कहा—'कुछ कहते रहिये न ?'

वे बोले—'लेकिन कहना आता किसे है ? कहें तो तब न, जब एक भी कहानी याद हो !'

मैं मूँछों में मुस्कराता रहा ।

दूसरे दिन रविवार था । मैं उस दिन बड़े साहब से मिलने गया ।

साहब ने कहा—'भाई, प्रधानाध्यापक कहते थे, तुम तमाम वक़्त कहानी ही कहा करते हो ।'

मैंने कहा—'जी हाँ, अभी तो कहानी ही चल रही है ।'

साहब ने पूछा—'तो फिर प्रयोग कब करोगे ? और अभ्यास कैसे पूरा होगा ?'

मैंने कहा—'साहब, प्रयोग तो चल ही रहा है । अब तो मैं खुद अनुभव कर रहा हूँ कि विद्यार्थियों को और शिक्षकों को एक-दूसरे के नजदीक लाने में कहानी कितनी अजब और जादू-भरी चीज़ है । पहले दिन जो मेरी सुनते तक न थे, और जो 'हा-हा, ही ही' करके मुझे दिक़ कर रहे थे, वे ही जब से कहानी सुनने को मिली है, तब से शान्त बन गये हैं । मेरी ओर प्रेम से देखते हैं । मेरा कहा सुनते हैं । कहता हूँ, उसी प्रकार बैठते हैं । 'चुप रहो, गड़बड़ न करो' तो मुझे कभी कहना ही नहीं पड़ता ! और कक्षा में से तो निकालने पर भी नहीं निकलते ।'

साहब ने कहा—'अच्छा, यह तो समझा । लेकिन अब नई रीति से सिखाना कब शुरू करोगे ?'

मैंने कहा—'जी, सिखाने की यही तो नई रीति है । कहानी के द्वारा आज व्यवस्था सिखाई जा रही है; अभिमुखता का अभ्यास हो रहा है; भाषा-शुद्धि और साहित्य का परिचय दिया जा रहा है । कल कुछ दूसरी बातें भी सिखानी शुरू की जाएंगी ।'

साहब बोले—'लेकिन देखना, कहीं कहानी-कहानी ही में सारा साल ख़तम न हो जाय ।'

मैंने कहा—'जी, इसकी आप चिन्ता न कीजिये ।'

: ६ ;

कहानी के लिए कक्षा के विद्यार्थी गोलाकार जमकर बैठे थे। मैंने तख्ते पर लिखा :—

आज का काम—हाज़िरी, बातचीत, कहानी। हाज़िरी भरने के बाद मैंने बातचीत छेड़ी। मैंने कहा—'लाओ देखें, तुम्हारे नाख़ून कितने बढ़े हुए हैं? सब खड़े होकर अपने हाथ तो दिखाओ।'

हर एक लड़के के नाख़ून बढ़े हुए थे। नाख़ूनों में मैल भी ख़ूब जमा था।

मैंने कहा—'तुम्हारी टोपियाँ हाथ में लो और देखो, कितनी मैली और कैसी फटी-टूटी हैं?'

सब ने अपनी टोपियां देखीं। किसी बिरले की ही टोपी अच्छी थी।

मैं बोला—'देखो, तुम्हारे कोट के बटन साबुत हैं?'

फिर मैंने कहा—'आज और ज़्यादा जांच नहीं होगी। कहानी में देर हो रही है।' यह कहकर मैंने कहानी शुरू कर दी।

कहानी के बीच में एक लड़के ने पूछा—'जी, कहानी की किताबों का क्या हुआ?'

मैंने कहा—'एक-दो दिन में ले आऊँगा। हाँ, जो कहानी की किताबें पढ़ना चाहते हों, वे अपने हाथ उठाएं।'

हर एक विद्यार्थी का हाथ उठा हुआ था।

मैंने पूछा—'तुमने कहानी की जो-जो किताबें पढ़ी हों, उनके नाम तो बोलो।' कुछ लड़कों ने दो-चार कहानियाँ पढ़ी थीं। वे चौथी कक्षा तक आ चुके थे, फिर भी उन्होंने पाठ्यपुस्तकों को छोड़कर और पुस्तकें बहुत ही कम पढ़ी थीं।

मैंने पूछा—'तुम में से कोई मासिक-पत्र भी पढ़ता है?' दो जनों ने कहा—'जी, हम 'बाल-सखा' पढ़ते हैं।'

मैंने कहा—'अच्छी बात है। मैं कहानियाँ लाऊँगा और तुम पढ़ना। इतनी अधिक कहानियाँ लाऊँगा कि तुम पढ़ते-पढ़ते थक जाओगे।'

सब बहुत ही प्रसन्न दिखाई पड़े।

फिर कहानी आगे चली, सो घण्टी बजने तक। छुट्टी हुई और मैंने कहा—'भाई, एक बात सुनते जाओ। गोले पर बैठकर सुनो। कल ये नाख़ून कटवाकर आना, भला! ख़ुद काट सको, तो ख़ुद काट लेना, नहीं तो बाबूजी से कहना या फिर नाई आए, तो उससे कटवा लेना।'

एक बोला—'जी मैं तो दाँत से काट लूँगा।'

मैंने कहा—'नहीं भाई, ऐसा न करना। नाख़ून या तो नहनी से कटते हैं या छुरी से।'

मैंने फिर कहा—'एक तमाशा हम और करेंगे।'

सब बोले—'वह क्या?'

'तुम नंगे सिर पाठशाला आया करो। यह गन्दी टोपी किस काम की? और हमें टोपी की जरूरत ही क्या है?'

सब हँस पड़े। कहने लगे—'भला, नंगे सिर मदरसे आ भी सकते हैं? प्रधानाध्यापक नाराज़ न होंगे?'

मैंने कहा—'कल से मैं नंगे सिर ही आऊँगा और तुम भी सब आना।'

लड़के बोले—'लेकिन बाबूजी मना करेंगे तो?'

'तो कह देना कि यह तो फ़ज़ूल का बोझ है। गन्दी टोपी पहनने से तो न पहनना अच्छा है।'

मैंने और भी कहा—'देखो कोट के बटन ज़रूर लगवाते आना। ऐसा तो अच्छा नहीं दीखता।' सब मन में विचार करते-करते घर गये।

रास्ते में मुझे प्रधानाध्यापकजी मिले। कहने लगे—'अजी भाई साहब, तुम तो कुछ-का-कुछ कर रहे हो। ये सब ढोंग क्यों करते हो? नाख़ून कटवाना और बटन लगवाना, और यह, और वह। नये ढंग से पढ़ाना सिखाने आये हो, तो पढ़ाओ न! ये काम तो माँ-बाप के हैं। वे करेंगे। नहीं तो हमें क्या पड़ी है? और सुनो, लड़कों को नंगे सिर तो पाठशाला में आने नहीं दिया जा सकता। यह तो असभ्यता होगी। इसके लिए साहब के हुक्म की ज़रूरत है।'

मैंने कहा—'साहब, पढ़ाई की ये ही तो नई बातें और नई रीतियाँ हैं। मैले-कुचैले और बेढंगे लड़कों की पहली पढ़ाई और क्या हो सकती है? आप ही देखिये न, जब मैंने उन लोगों से कहा, तो सब-के-सब शरमाये तो सही! उन में यह ख़याल तो पैदा हुआ ही है कि इस तरह गन्दा रहना ठीक नहीं। मुझे तो विश्वास है कि आगे बहुतेरे छात्र सफ़ाई से रहने की कोशिश शुरू करेंगे। रही टोपियों की बात, सो इस सम्बन्ध में मैं बड़े साहब का मत जान लूँगा। और अलबत्ता, उनका हुक्म न मिला तो यह परिवर्तन बंद रहेगा।'

मैं घर गया, भोजन किया और तुरन्त ही बड़े साहब के घर पहुँचा।

'कहिये, आज इस समय कैसे?'

'जी, एक मामले में आपकी राय लेनी है।'

'कहिये, क्या बात है?'

'क्या कक्षा में मैं और मेरे विद्यार्थी नंगे सिर नहीं आ सकते?'

'क्यों, किसलिए?'

'उनकी टोपियाँ इतनी ज्यादा गन्दी और चित्र-विचित्र हैं कि वे बिना टोपी के ही आएं, तो क्या बुराई है? इस उमर में उनके सिर यह बोझ न भी हो, तो क्या हानि है?'

'लेकिन लोगों को यह बात विचित्र और हास्यास्पद नहीं मालूम होगी?'

'सो तो होगी ही। पर इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?'

'मेरे विचार में तो अपने इस प्रयोग के सिलसिले में हम ऐसी सामाजिक बातों को न छुएँ तो ठीक हो। हमें तो पाठशाला की चहारदीवारी के अन्दर बैठकर यही देखना है कि आज की शिक्षा-प्रणाली में क्या और कैसे सुधार हम कर सकते हैं। टोपी-वोपी को तो छोड़ो भाई!'

'आपका यह विचार मुझे थोड़ा संकुचित तो लगता है, लेकिन मैं तत्काल ही इसके लिए आग्रह नहीं करूँगा। आरम्भ ही में मैं लोगों का और आपका विरोध मोल लेना नहीं चाहता।'

मैंने कहा—'यदि लड़के कक्षा में नंगे सिर रहकर काम करें, तब तो कोई एतराज़ नहीं होगा न?'

साहब ने कहा—'नहीं, बिलकुल नहीं। कक्षा में तो आप मन-चाहा सुधार कीजिए। ऐसा करते-करते यदि लोग उसे स्वीकार कर लें, तो टोपी पहनाने का मेरा अपना आग्रह बिलकुल नहीं है।'

मैंने कहा—'बहुत अच्छा। अब एक दूसरी बात भी पूछे लेता हूँ। मुझे अपनी कक्षा में एक छोटा-सा पुस्तकालय स्थापित करना है। उसके लिए मुझे रुपये मिल सकेंगे?'

साहब ने कहा—'रुपये? भला, रुपये कैसे मिल सकते हैं? यह प्रयोग तो एक तरह से तुम्हारे और मेरे बीच का है। बजट में

जितने रुपये हैं, उन्हीं से हमें तो शाला चलानी है। तुम्हारी पाठशाला के तुम्हारे दरजे के हिस्से में जो आठ-बारह आने आएं, उन्हीं से सब खर्च चलाना होगा।'

मैंने कहा—'तब क्या हो?'

साहब बोले—'तो अभी तो इस विचार को रहने दो।'

मैंने कहा—'मेरे पास एक दूसरी योजना भी है। पर आप स्वीकार करें, तब न? और वह यह है कि हर एक छात्र को पाठ्यपुस्तकें तो खरीदनी ही पड़ती हैं। हिन्दी की चौथी पुस्तक, उसकी कुंजी और इतिहास की किताबें तो सब छात्र खरीदते ही हैं।'

'हाँ, सच है।'

'तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि छात्रों से पाठ्य-पुस्तकें खरीदवाई ही न जाएं और उन पुस्तकों की क़ीमत में अच्छी-अच्छी पढ़ने योग्य पुस्तकें ख़रीद ली जाएं और उनका एक पुस्तकालय बना दिया जाये।'

'अच्छा, लेकिन पाठ्यपुस्तकों के बिना पढ़ाओगे कैसे?'

'जी, मैंने इसका विचार कर रखा है। पढ़ाने की पद्धति के परिवर्तन पर मुझे पूरा विश्वास है। मैं आपको काम करके दिखाऊँगा और इस सम्बन्ध में आपको पूरा विश्वास भी दिला सकूंगा।'

'बहुत अच्छा; मैं मानता हूँ कि प्रयोग तुम्हारा है और परिणाम भी तुम्हीं को दिखाना है। लेकिन मुझे थोड़ी चेतावनी तो दे ही देनी चाहिए। देखो, छात्रों को आवारा न बनने देना। प्रयोग में मैं तुम्हारे साथ तो हूँ ही; लेकिन ज़रा छाती धड़क जाती है।'

मैंने कहा—'साहब, आप विश्वास रखिये। एक बार देखिये तो सही! प्रयत्न हमारा है और ईश्वर ने चाहा तो सफलता भी हमारी ही होगी।'

'अच्छा, लेकिन वर्ष के अन्त में तुम्हारे इस पुस्तकालय का क्या होगा? छात्रों में वे किताबें बाँट दोगे?'

'जी–हाँ, एक तरह तो किताबें सारी कक्षा की ही होंगी और वे कक्षा वालों को वापस मिलनी ही चाहिए। लेकिन यदि मैं माँ-बापों को समझा सका कि वे पुस्तकें वापस न माँगें और कक्षा के पुस्तकालय में ही रहने दें, तो पुस्तकालय स्थायी बनेगा और हर साल उसमें नई-नई किताबें बढ़ती रहेंगी।'

'न जाने, लोगों को तुम्हारी बात गले उतरेगी भी! बाक़ी विचार तो सुन्दर है। अवश्य ही इसे एक अवसर तो दे ही दो। लेकिन फिर भी सवाल यह उठता है कि पढ़ाते समय पाठ्यपुस्तकों के बिना कैसे चलाओगे?'

'जी, मैंने सब-कुछ सोच रखा है।'

साहब से विदा होकर मैं घर आया।

: ७ :

दूसरे दिन पाठशाला खुली। मैंने सोचा था, शायद लड़के नंगे सिर आवेंगे। लेकिन मेरी आँखें खुल गईं! मालूम हुआ कि माँ-बाप ने वैसा करने से इन्कार किया है। उन्होंने कहा था—'नंगे सिर भी कहीं जाते होंगे? तुम्हारा शिक्षक तो पागल है!'

मैंने नाखून देखे, लेकिन दो-चार के ही कटे पाये। घर को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ इसका कारण थीं। कोट के बटन सीने की फुरसत किसे थी, जो सी देता? एक माँ ने तो यहाँ तक

कहला भेजा था कि—'मास्टरसाहब, आप पढ़ाने आये हैं तो पढ़ाइये, साहब ! पर ये नये-नये हुनर क्यों निकालते हैं ? हमें भी तो कुछ कामकाज होगा न कि लड़के के नाखून काट दें और बटन सी दें और यह कर दें और वह कर दें ! हमारे लड़कों का तो ऐसा ही चलता रहता है ! हमें तो मरने की भी फुरसत नहीं, फिर आपकी यह बेगार कौन ढोये !'

मैं तो दंग रह गया ! सोचा था, पाठशाला खुलते ही कक्षा साफ़ और सुथरी मिलेगी, लेकिन उसके बदले ऐसे-ऐसे सन्देश मिले ! खैर, परवाह नहीं । मैंने सोचा—यों तो काम न चलेगा । मुझे एक ओर माँ-बापों का सहयोग प्राप्त करना होगा और दूसरी ओर ऐसी योजना करनी पड़ेगी, जिससे छात्रों को पाठशाला में ही इन बातों का शौक लग जाय ।

उस दिन मेंने उनसे कोई बातचीत नहीं की । बस, छूटते ही कहानी शुरू कर दी और शुरू की हुई कहानी पूरी सुना दी ।

लड़के कहने लगे—'दूसरी कहानी !'

मैंने कहा—'कल से नई कहानी शुरू करेंगे । आओ आज थोड़ा खेल लें ।'

'खेलें ?' लड़के आश्चर्य से मेरी तरफ़ ताकते रहे । 'हाँ खेलेंगे । खेल खेलेंगे । कहो, तुम कौन-कौन से खेल जानते हो ?'

'कई खेल जानते हैं । लेकिन उन्हें कक्षा में खेल कैसे सकते हैं ?'

'क्यों नहीं खेल सकते ?'

'जी, यह तो पाठशाला का समय है । इस समय कभी लड़के खेलते भी हैं ? किसी दिन खेलते देखा है ?'

लेकिन हम तो खेलेंगे । तुम्हारे साथ में भी खेलूँगा । आओ, हम खेलें ।'

कुछ लड़के तो पुतले की तरह खड़े ही रहे । कुछ 'हू-हू' करते हुए खेलने दौड़े । इतने में तो हो-हल्ला मच गया । दूसरी कक्षा के लड़के भी कमरों में से झाँक-झाँक कर देखने लगे और मेरे साथी शिक्षक भी मेरे सामने ताकते रह गये ।

इसी बीच प्रधानाध्यापक एकाएक आए और मुझे टोका—'देखिये, यहाँ पास में कोई खेल नहीं खेले जा सकते । चाहें, तो दूर उस मैदान में चले जाइये । यहाँ दूसरों को तकलीफ़ होती है ।'

में लड़कों को लेकर मैदान में पहुँचा ।

लड़के तो बे-लगाम घोड़ों की तरह उछल-कूद मचा रहे थे । खेल ! खेल ! हाँ, भैया खेल !"

मैंने कहा—'कौन–सा खेल खेलोगे ?'

एक बोला—'खो-खो ।'

दूसरा बोला—"नहीं, कबड्डी ।"

तीसरा कहने लगा—"नहीं, शेर और पिंजड़े का खेल ।"

चौथा बोला—"तो हम नहीं खेलते ।"

पाँचवाँ बोला—"रहने दो इसे, हम तो खेलेंगे ।"

मैंने लड़कों की ये बिगड़ी आदतें देखीं ।

मैं बोला—'देखो भई, हम तो खेलने आये हैं । 'नहीं' और 'हाँ' और 'नहीं खेलते,' और 'खेलते हैं,' करना हो तो चलो, वापस कक्षा में चलें ।'

लड़के बोले—'नहीं जी, हम तो खेलना चाहते हैं ।'

मैंने कहा—'तो आओ, आज खो-खो खेलें। दो जने नेता बन जाओ और दूसरे दो सलाह करके आओ।' लड़के गये।

फिर साथी तलाशने में बहुत-कुछ देर लगी। एक कहता, मैं 'भीड़ू' बनता हूँ; दूसरा कहता, मैं बनता हूँ। आखिर मैंने दो जनों के नाम सुझा दिये और दो टुकड़ियाँ कर दीं, तब कहीं खेल शुरू हुआ।

लेकिन यह तो गली-कूचों में खेलने वाले लड़कों का खेल निकला! कोई ज़बान बन्द करके खेलता ही न था। हर एक बिला वजह कुछ-न-कुछ बोलता ही रहता था: 'हाँ, आओ मियाँजी पकड़ो!', 'बस, पकड़ा, पकड़ा! तुम्हारी क्या बिसात, जो तुम पकड़ सको!', 'ऐ, ज़रा सम्हालना।', 'अरे वाह, ज़रा देखो तो सही, वह उधर से निकल जायगा।', 'अरे, ध्यान रक्खो, ध्यान। देखो, मैं कहता न था कि वह निकल भागेगा? बड़े बातें करने लगे और उधर से वह निकल भागा! लो, हार गये न!'

मैंने सोचा—यह खेल का मैदान है या भाजी बाज़ार? खो-खो का खेल है, या हल्ले-गुल्ले की बाज़ी?

खेल खत्म होते ही जीते हुए लड़कों में से एक ने कहा—'लो, हम जीते; हाँ, हमीं जीते! मेहनत तो खूब की, लेकिन कुछ चला भी? भीड़ू अच्छा था तो क्या हुआ?'

सामने वाला चिढ़ा और घुरका। बोला—'हाँ, मैं हारा! तो बोलो अब क्या करोगे?'

पहले वाला फिर बोला—'तुम हारे, हम जीते! करेंगे क्या? जीते, जीते, जीते।'

हारने वाले के मुँह पर गुस्सा था। वह बोला—'बस, अब चुप भी रहोगे या नहीं? नहीं तो देखा है यह पत्थर?'

जीतने वाला बोला—देखा, देखा! चिढ़ायेंगे, चिढ़ायेंगे और फिर चिढ़ायेंगे। यह हारा, यह हारा, यह हारा!'

उसका गुस्सा काबू में न रहा और उठाकर उसने पत्थर फेंक मारा। पत्थर एक दूसरे छात्र के सिर में लगा और लहू की धार बह चली। मैंने सोचा—यह तो बुरा हुआ। वहीं अपना रूमाल फाड़कर मैंने पट्टी बाँधी। सब लड़कों को अपने पास बुलाकर मैंने कहा—'देखो जी, कल से खेल बन्द।'

सब कहने लगे—'लेकिन साहब, यह तो इनकी लड़ाई थी, इस में हमारा क्या कसूर?'

मैंने कहा—'तुम्हें मेरी दो बातें मंजूर हों, तो मैं खेल खेलाऊँगा।'

सब बोले—'मंजूर हैं, मंजूर हैं!'

मैंने कहा—'पहली बात तो यह कि खेलते समय कोई बिना कारण न बोले। जो बोले, वह अलग हट जाये।'

सबने कहा—'मंजूर है।'

दूसरी बात यह कि खेल में हारने-जीतने की बात ही नहीं। खेल है; एक बार हम कमज़ोर रहे, तो दूसरी बार दूसरा। इसमें हम हारे और तुम जीते की बात ही क्या है? खेलने का मतलब है, खेलना, कूदना, दौड़ना और मौज करना। हारना और जीतना और फिर सिर फोड़ना, हमें इसकी ज़रूरत ही क्या?'

सब बोले—'हमें यह भी मंजूर है।'

हम सब खेल-कूदकर पाठशाला में आये। साथ में सिर फूटा हुआ वह लड़का भी था। दूसरे शिक्षक और लड़के उसे देखने बाहर आये। एक मसखरे लड़के ने कहा—'क्यों, कैसा खेल खेला?'

दूसरा बोला—'अरे भाई, ये तो फाग खेलने गये थे।'

छुट्टी हुई और शिक्षक और प्रधानाध्यापक मुझ से मिले। एक शिक्षक ने कहा—'कहिये, आज तो बड़ा युद्ध करवा दिया आपने ?'

दूसरे शिक्षक बोले—'अजी साहब, ये खेल-वेल आप रहने दीजिये यह बारह बापों की प्रजा ठहरी ! इसे तो शाला की चहार-दीवारी के अन्दर ही रखिये और रटाइये और पढ़ाइये। आप इन्हें आज़ाद कर देंगे, तो ये एक-दूसरे का सिर फोड़ डालेंगे। गलियों में रोज़ क्या होता है, आप जानते नहीं ?'

प्रधानाध्यापक बोले—'मैं तो सोच ही रहा था कि आज जरूर कुछ नई-पुरानी होगी। लेकिन ठीक ही तो है। इन महाशय को एक बार अनुभव की आवश्यकता है; बिना उसके ये सहज ही चुप न बैठेंगे। कहीं पाठशाला में भी खेल खेलाये जाते हैं ?'

मैंने कहा—'साहब, खेल ही तो सच्ची पढ़ाई है। दुनिया की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ खेल के मैदान पर ही पैदा हुई हैं। खेल का मतलब है, चारित्र्य।'

प्रधानाध्यापक बोले—'तभी तो मारपीट हुई और सिर फूटा।'

बातचीत चल ही रही थी कि इतने में घायल लड़के का बाप लाल-पीला होता हुआ आ पहुँचा। बोला—'हमें ऐसी पढ़ाई की जरूरत नहीं। देखिये, यह सिर जो फूट गया। कहाँ हैं प्रधानाध्यापक ? इसे किसने मारा है ?'

मैंने कहा—'देखिये महाशय, लड़के खेलने गये थे; वहां आपस में ये लड़ पड़े और इन्हें लग गई।'

बाप ने कहा—'तो इसे खेलने की इजाजत किसने दी ? पाठशाला में पढ़ाई होती है या खेल ? सारा दिन गली-कूचों में खेला

ही तो करते हैं न ? आप लड़के को पढ़ाना चाहते हों तो भेजूं, नहीं तो बन्द कर दूं।'

मैं चुपचाप सुनता रहा।

प्रधानाध्यापक बोले—'भाई साहब, सुनिये। ये महाशय हमारे एक नये शिक्षक हैं और पढ़ाई के नये-नये प्रयोग करते हैं। आज इन्होंने खेल का एक प्रयोग किया था। यह सिर-फुटौवल उसी का परिणाम है।'

लड़के का बाप बोला—'मुझे आपके इन प्रयोगों की ज़रूरत नहीं। लड़के को अच्छी तरह पढ़ाना हो, तो पढ़ाइये; नहीं, हटा लूं।'

इस समय दूसरे शिक्षक मूँछों में मुस्करा रहे थे। ऐसी स्थिति में मैं भला क्या बोलता ?

घर गया। खाना अच्छा नहीं लगा। कमरे में जाकर बैठा और सोचने लगा—भई, यह तो आफ़त ही खड़ी हो गई ! खैर। उन्हें खेल के नियम तो बताये ही हैं और भी बताऊँगा। बाक़ी, खेल तो खेलाने ही होंगे। मेरे विचार में तो खेल ही सच्ची पढ़ाई है।

लेटे-लेटे एक विचार और आ गया—माँ-बापों की एकाध सभा क्यों न कर लूं ? उन्हें खेल का महत्त्व क्यों न समझाऊँ ? उनसे स्वच्छता और व्यवस्था के बारे में सहयोग की प्रार्थना भी करूँगा। वे लोग मदद न करेंगे, तो मैं कर ही क्या सकूंगा ? क्या अपने बच्चों के लिए वे इतना भी न करेंगे ? हम शिक्षक लोग माँ-बापों से सहयोग की प्रार्थना क्यों नहीं करते ? यह दोष तो हमारा ही है। तो कल ही एक सभा क्यों न बुला लूं ? क्यों न कर डालूं ?

: ८ :

सभा जुड़ी। पर इसे सभा कहा भी जाये या नहीं ? चालीस माँ-बापों के नाम पत्र भेजे गये थे, पर कुल सात पालक आये थे।

मेरी निराशा की सीमा न रही। मैंने भाषण की बड़ी अच्छी तैयारी की थी। पर क्या करता ? आखिर मैंने अपना भाषण शुरू कर ही दिया। सोचा, हमारा काम तो प्रयत्न करने का है। भाषण का भी यह एक प्रयोग ही सही !

बड़ी गम्भीरता-पूर्वक एक घण्टे तक मैंने मननीय भाषण किया। सात सज्जनों में से एक को घर जाने का बुलावा आ गया और वे चले गये; दूसरे बड़ी दुविधा में फँसे मेरी बातें सुन रहे थे। बातें सब महत्त्व की थीं और उनको समझाना बहुत जरूरी था।

मैंने उन्हें सच्ची और झूठी पढ़ाई का तात्त्विक भेद बड़ी बारीकी से समझाया। मैंने उन्हें बताया कि आध्यात्मिक उन्नति का स्वच्छता के साथ क्या सम्बन्ध है। मैंने उन्हें खेल और चरित्र-गठन की जंजीर भी जोड़कर बताई। मैंने उन्हें अन्तस्तल से उगने वाले सच्चे अनुशासन की महिमा और उसका महत्त्व समझाया और आजकल की प्रचलित शिक्षा-पद्धति का और अनुशासन का खण्डन किया।

लेकिन यहाँ तो औंधे घड़े पर पानी वाली मसल थी। बेचारे दो-चार जो मारे शरम के आ गये थे, वे भी घर जाने को उतावले हो रहे थे। भाषण खतम होते ही वे चले गये।

रह गये हम शिक्षक और हमारे अधिकारी। साहब ने ज़रा हँसकर कहा—'लक्ष्मीशंकर जी ! यह तो भैंस के आगे भागवत पढ़ी गई ! भई, तुम्हारी इस फिलॉसफ़ी को समझता कौन है ?'

पीछे से किसी शिक्षक ने धीमी आवाज़ में कहा—'अजी, मूर्ख है, मूर्ख !'

मुझे अच्छा तो न लगा, लेकिन मैं जब्त कर गया। मैंने मन ही मन यह अनुभव भी किया कि मैं अभी थोड़ा 'पठित मूर्ख' तो

ज़रूर हूँ। अभी मैं यह भी तो नहीं जानता कि साधारण लोगों के सामने भाषण कैसे करना चाहिए।

शिक्षक सब हँसते-हँसते घर गए।

: ६ :

दस-बारह दिन बीते और मैंने पुस्तकालय के काम को हाथ में लिया। कहानियाँ बहुतेरी कही जा चुकी थीं। लड़के चौथे दरजे के थे। अब उनके हाथ में पुस्तकों के आने की ज़रूरत थी।

मैंने लड़कों से कहा—'कल चौथी पुस्तक और इतिहास के दाम लेते आना। यहीं से सब प्रबन्ध करेंगे।'

दूसरे दिन एक लड़का चौथी किताब और इतिहास लेकर ही आ गया। कहने लगा—'जिस दिन चौथी में चढ़ा उसी दिन पिताजी ने ये ख़रीद ली थीं।'

दूसरा बोला—'मेरे बड़े भाई के पास ये किताबें थीं। मैं इन्हें ले आया हूँ।'

तीसरे ने कहा—'जी, मेरे लिए तो बम्बई से मेरे फूफा किताबें भेजने वाले हैं। यहाँ से नहीं ली जायँगी।'

एक और लड़के ने कहा—'मेरे बाबूजी पैसे देने से इनकार करते हैं। कहते हैं—'किताबें हम दिला देंगे।'

मैंने सोचा—मार डाला ! कल्पना में तो पुस्तकालय का मेल मिलाना आसान था, लेकिन वास्तव में काम बड़ा टेढ़ा है !

कुछ विद्यार्थी पैसे भी लाये थे। मैंने पैसे रख लिये और रसीद देकर लड़कों से कहा—'अच्छी बात है।'

दूसरे दिन लड़के कहने लगे—'हमारी चौथी पोथी ? हमारा इतिहास ?'

मैंने कहा—'तुम्हारे पैसों से मैं कहानी की ये नई किताबें लाया हूँ। तुम कहते न थे कि तुम्हें कहानी की किताबें पढने में मजा आता है ?'

लड़के बहुत खुश हुए। अच्छे-अच्छे रंगीन पुट्ठों और चित्रों वाली किताबें देखकर वे उन पर टूट पड़े।

मैंने कहा—'हमारे पास तो अभी सिर्फ पन्द्रह किताबें हैं। पन्द्रह जने पढ़ सकेंगे। बाक़ी के बीस मेरे पास आ जायें और मैं जो पढ़ता हूँ, उसे सुनें।' गड़बड़-घोटाले से बचने के लिए मैंने कहा—'पहले पन्द्रह विद्यार्थी किताबें पढ़ें और बाक़ी मेरे पास आवें।

पन्द्रह जनों ने पन्द्रह किताबें उठा लीं और उन पर भूखे बाघ की तरह टूट पड़े। मैंने कहा—'देखो, एक किताब पढ़ चुको, तो मेज पर लाकर रख दो और दूसरी वहाँ पड़ी हो, तो उठा ले जाओ। इससे एक-एक करके तुम्हें सबको सब किताबें पढ़ने को मिल जायेंगी।'

दूसरों को मैंने अपने पास बैठा लिया और आदर्श वाचन शुरू किया। मैं छटा के साथ, भाव-भंगी और नियम के अनुसार पढ़ने लगा। लेकिन उन पन्द्रह जनों के पढ़ने की आवाज ! ओह ! जरा रुक कर मैंने कहा—'भाइयो ! तुम मन में पढ़ो। हमें दिक्क़त होती है।' कुछ देर के लिए शोर कम तो हुआ, लेकिन उन्हें मूक वाचन का मुहावरा ही न था। वे ज़ोर से ही पढ़ा करते थे। कुछ देर धीमे पढ़कर वे फिर ज़ोर से पढ़ने लगे। मैंने उन्हें बरामदे में अलग-अलग बैठकर पढ़ने को कहा और मैं अन्दर रहा।

आदर्श वाचन खूब चला। कहानी पसन्दीदा थी, इसलिए

सबने दिलचस्पी के साथ सुनी। घण्टी बजने तक पुस्तक-वाचन और आदर्श वाचन होते रहे और फिर हम घर गये।

: १० :

कहानी और खेल, पुस्तकालय और आदर्श वाचन, स्वच्छता और व्यवस्था की खटपट करते-करते दो-तीन महीने बात की बात में बीत गये।

मैं अपने काम का हिसाब लगाने बैठा। जो काम हो चुका था, उस पर एक नज़र दौड़ा गया। मुझे पता चला कि अभी तो पाव सेर में पहली पूनी भी नहीं कती है। पाठ्यक्रम के हिन्दी, गणित, इतिहास और पदार्थ पाठ आदि विषयों में से तो कुछ हुआ ही न था। दूसरी कक्षाओं में तो बहुत-कुछ हो चुका था और वर्ष के अन्त तक तो मुझे भी यह सब करके दिखाना ही था। मेरे प्रयोग की शर्त भी यही थी। खैर, यह सब तो ठीक ही है। पर मैं क्या-क्या कर चुका हूँ, सो तो देखूँ ? कहानी सुनाने में मुझे खूब सफलता मिली है। इसके कारण लड़के ठीक-ठीक व्यवस्थित और अभिमुख बने हैं। लेकिन अभी चम्पकलाल और रमणलाल को कहानी अच्छी नहीं लगती; रामजीवन और शंकरलाल को कहानी बिलकुल सरल मालूम पड़ती है। कहानी के समय राघव और माधव आँखें चलाया करते हैं, अँगुलियाँ मटकाया करते हैं और दूसरों का मुंह चिढ़ाया करते हैं; इसका इलाज करना तो अभी बाक़ी ही है। हाँ, यह सच है कि खेल खेलाने के कारण बालक अब मेरे साथ खुलकर बातें करते हैं; मुझे अपना मानने लगे हैं; मुझ से डरते नहीं हैं और खेल के बाद सब मेरा आदर्श वाचन बड़े ध्यान से सुनते हैं। लेकिन अभी खेल की अव्यवस्था और शोरोगुल में नाम-मात्र की कमी हुई है। मेहनत तो खूब करता हूँ, लेकिन अभी रास्ता तय नहीं हो पाया है।

वाचनालय में अभी थोड़ी किताबें हैं। अब तक मैं माँ-बापों के गले यह बात उतार ही नहीं सका कि पाठ्यपुस्तकों के बदले पुस्तकालयों की रचना महत्व की है। मैं सोचता था कि भाषण देकर माँ-बापों को समझाने से सब कुछ ठीक हो जायगा। लेकिन हमारे पालकों को तो केवल यही एक टेर पड़ी है कि 'पढ़ा दो'। कोई दूसरी बात सुनने की न तो उन्हें फ़ुरसत है और न वह उनकी समझ में ही आती है। चिन्ता नहीं। यह सब तो लगकर काम करने से ही होगा। आज नहीं कल। अभी मेरे पास समय भी तो है।

मैंने आगे सोचा—भई, यह प्रयोग तो बड़ा महाभारत काम निकला! जितनी अधिक हमारी कल्पना, ज्ञान और आदर्श, उतनी ही गम्भीर और बड़ी हमारी परेशानी! मुझे कई सवाल सता रहे थे। सफाई के सम्बन्ध में अभी कुछ हुआ ही न था। टोपियाँ वैसी ही पड़ी थीं। कपड़े एक-दो दिन तक तो अच्छे आये, लेकिन फिर वही पुराना ढर्रा। नाख़ून भी फिर फावड़े की तरह बढ़ने लगे थे। इन कामों के पीछे पड़े बिना छुटकारा नहीं था। चूंकि समाज में नई आदत डालनी है, इसलिए यह काम धीरज से लेकिन बार-बार करने से ही सिद्ध होगा।

फिर अकेले लड़कों की ही चिन्ता तो है नहीं। बड़े साहब भी तो अब कुछ उतावली मचाये हुए हैं। उनके भी तो अफ़सर और विरोधी रहते हैं। वह यश के भागी तो बनना चाहते हैं, लेकिन परिणाम भी जल्दी चाहते हैं और मुझे मदद करने की उनकी शक्ति भी तो मर्यादित ही है!

मेरे साथी शिक्षकों का मुझ में ज़रा भी विश्वास नहीं। वे तो मुझे निरा मूर्ख समझते हैं। और हाँ, शायद मैं मूर्ख हूँ भी। वैसे तो अनुभवहीन ठहरा। लेकिन उनकी इन मान्यताओं और

सिखाने की इन रीतियों को तो भई हाथ जोड़ता हूँ। इन्हें देखकर मुझे तो बस कँपकँपी ही छूटती है। इससे तो मैं जो करता हूँ वह लाख दरजे ठीक है। मेरे विद्यार्थी मुझे देखकर भाग तो नहीं जाते। वे मुझे से पर्याप्त प्रेम करते हैं। वे मेरा आदर भी करते हैं। आज्ञा भी पालते हैं। इन शिक्षकों को देखकर तो इन के छात्र भाग खड़े होते हैं और पीठ पीछे इनकी नक़ल करते हुए मैंने उन्हें अपनी आँखों देखा है! एक भी लड़का ऐसा नहीं, जो शिक्षक के पास जाकर प्रेम से खड़ा हो सके और हँसकर बात-चीत करे। वे कक्षा में चुपचाप बिना हिले-डुले बैठते हैं, पर जब बाहर निकलते हैं, तो इतना ऊधम मचाते हैं कि पूछो न बात। अपने विद्यार्थियों को मैंने उचित स्वतन्त्रता दी है। वे कक्षा में जो थोड़ी गड़बड़ कर लेते हैं, उस से अधिक गड़बड़ बाहर कभी नहीं मचाते। लेकिन मेरे साथी तो मुझ पर यह आरोप लगाते हैं कि मैं लड़कों को बिगाड़ रहा हूँ, उन्हें उद्दण्ड बना रहा हूँ—केवल कहानियाँ सुनाता रहता हूँ और पढ़ाता बिलकुल नहीं; खेला-खेला कर उलटा उन्हें आवारा बना रहा हूँ। अच्छा है; देखा जायेगा। मेरे विचार में तो ये खेल और ये कहानियाँ ही आधों-आध शिक्षा है!

यह सब होते हुए भी मुझे कभी भूलना न चाहिए कि मेरा काम विकट है—मुझे तो यह मानकर ही अपना काम करते रहना चाहिए।

टन्, टन् बारह बजे और मेरी विचार-धारा टूटी। मैंने कहा—'हे भगवन्! अन्तिम सहारा तो तुम्हारा ही है।' इतना कहकर और सारी चिन्तायें उसी दयाघन परमेश्वर को सौंपकर मैं यह कहता हुआ सो गया कि 'कल की कल से'।

दूसरा खण्ड

प्रयोग की प्रगति

: १ :

तीसरा महीना शुरू हुआ। मैंने सोचा, अब तो रोज के काम की डायरी रखता जाऊँ, जिससे खुद मुझे भी पता चलता रहे कि हफ्ते भर में कितना काम होता है। साथ ही मैंने एक-एक महीने के काम का आलेख भी रखा, जिससे मुझे डायरी की उपयोगिता का पता चला। मेरी यह डायरी 'लॉग-बुक'-जैसी नहीं थी, केवल दिशासूचक सूची-मात्र थी।

कहानी तो प्रतिदिन चलती ही थी और खेल भी खेले जाते थे। बीच-बीच में बातचीत, आदर्श वाचन और छात्रों के शरीर की परीक्षा भी हो जाती थी। वाचनालय भी धीमी चाल से आगे बढ़ रहा था।

: २ :

मैंने पाठ्यक्रम के विषयों में से एक-एक को लेना शुरू किया। एक दिन सुबह मैंने कहा—'लिखो, श्रुतलेखन।' लड़के मेरी तरफ देखने लगे। उन्होंने शायद कभी सोचा ही नहीं था कि मैं इस ढंग का शिक्षक हूँ कि श्रुतलेखन लिखवाऊँगा या सबक़ लूँगा और दूँगा या नक़शा पूछूँगा और इसी तरह के और-और

काम लूँगा। और, एक तरह से तो मैं वैसा था भी नहीं। उन्होंने मुझे वैसा समझा भी नहीं था।

मैंने उन्हें कहा—'लिखो।'

पर बहुतों के पास न पट्टी थी और न क़लम ही थी। न पट्टी और क़लम का और न दूसरी किताबों का उन्हें काम ही पड़ता था, इससे वे कक्षा में खाली हाथ ही आने लगे थे। पास की कक्षा से मैंने पट्टियां और क़लमें मँगवाई और श्रुतलेखन लिखवाने बैठा।

कइयों ने मुँह बनाये। कोई कहने लगा—'भाईजी, कहानी नहीं कहियेगा?' दूसरा बोला—'किताबें तो कोई चली ही नहीं, श्रुतलेखन किसमें से लिखवाइयेगा?' दूसरे दो जने बोले—'पहले हमें पढ़ लेने दीजिये कि गलतियाँ न हों।'

मैंने मन ही मन कहा—अरे, ये सब तो पूरे पुराने ढर्रे की पढ़ाई के चेले हैं। श्रुतलेखन का पुराना मतलब ये बखूबी जानते हैं और इसी कारण ये उससे भड़कते हैं। श्रुतलेखन इन्हें पसन्द नहीं और पहले से ये उसकी तैयारी चाहते हैं।

मैंने पुस्तकालय की पुस्तकों में से एक पुस्तक उठाई और लिखाना शुरू किया। मैं पूरा एक वाक्य बोल गया। पर दो-चार शब्द ही बोला था कि इतने में तो अर्धे-पर्धे शब्द सुनकर वे लिखने लग गये और पूरा वाक्य उन्होंने सुना भी नहीं! 'क्या कहा, भाई जी?', 'क्या लिखाया, साहब?' कह-कहकर सब पूछने लगे।

मैंने कहा—'देखो, मैं तुम्हें बताऊँगा कि श्रुतलेखन किस तरह लिखना चाहिए। जब मैं बोलूं, तुम बराबर मेरे सामने देखा करो और बोल चुकूं, तो ठीक से सुन और समझकर लिख डालो और फिर दूसरा वाक्य सुनने के लिए मेरी ओर देखो।' मैंने इसी तरह लिखाना शुरू किया। लेकिन उनकी पुरानी आदत एकाएक

कैसे छूटती ? आगे चलकर तो सबको यही नई आदत पड़ गई और फिर किसी को बार-बार पूछने की आवश्यकता ही न रह गई। मैं भी सिर्फ़ एक ही बार बोल देता था। दुबारा उन्हें सुनाता भी न था।

श्रुतलेखन लिखा गया और पट्टियाँ नीचे रक्खी गईं। मैंने जाँचा और जाना कि हिज्जों की भूलें बहुत पड़ती हैं; जुड़वाँ अक्षरों का भी ठिकाना नहीं है और अक्षर भी बराबर और अच्छे नहीं लिखे जाते हैं।

मैंने किसी की चूकें नहीं निकाली थीं। एक-एक करके सब पट्टियाँ देखीं और लौटा दी थीं। सब कहने लगे—'हमारी भूलें कितनी हैं ? मेरी कितनी हैं ? हमें ऊपर चढ़ाइये, इसे नीचे उतारिये।'

इतने में एक लड़का बोला—'अब तो लक्ष्मीशंकरजी भी हमें पढ़ावेंगे और नम्बर देंगे और ऐसी-ऐसी सब बातें होंगी।'

मैंने कहा—'मैं तो ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा। ठीक तो है, तुम सब लिखना जानते हो। कल फिर लिखना। ऐसा करते-करते तुम बहुत अच्छा लिखने लगोगे। रोज-रोज लिखोगे तो भला लिखना आवेगा क्यों नहीं ? और ग़लतियां निकालकर करना भी क्या है ?'

एक ने पूछा—'लेकिन नम्बर, और चढ़ाना-उतारना ?'

मैंने कहा—'जब तुम मुझ से कहानियाँ सुनते हो, तो चढ़ते-उतरते हो ?'

'जी, नहीं।'

'इन अच्छे कपड़े पहनने वालों में कोई चढ़ता-उतरता है ?'

'नहीं।'

'और ये जो खेल खेलते हो, इनमें नंबर दिये जाते हैं ?'

'नहीं।'

'तुममें से कोई ऊँचा है और कोई ठिगना है। इसके लिए कोई तुम्हें चढ़ाता-उतारता है ?'

'नहीं।'

'तुममें से कोई मोटा है और कोई दुबला-पतला है। इसमें कोई चढ़ाव-उतार है ?'

'नहीं।'

'तुममें से कोई धनवान है और कोई ग़रीब है। इसके कारण तुम्हें कभी पाठशाला में नम्बर मिलते हैं ? तुम चढ़ाये-उतारे जाते हो ?'

'जी, नहीं।'

'तो अब समझे न ? हमारी कक्षा में चढ़ने-उतरने की आवश्यकता ही नहीं। जिसे कविता याद हो, वह गाए; न याद हो, याद कर ले। खेलना न आता हो, देख-देखकर सीखे; आता हो, तो खूब खेले और मौज करे। श्रुतलेखन में जो अच्छे अक्षर लिखता है, उसे देख-देखकर दूसरे भी अपने अक्षर अच्छे बना लें। मैं किसी से कुछ पूछूँ और उसे वह याद न हो, तो जिसे याद हो वह उसे बता दे और नहीं तो मैं तो बताऊँगा ही। बस, इतनी-सी तो बात है।'

सब विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखते रहे। उन्हें कुछ अचम्भा-सा हुआ था।

आखिर मैंने कहा—'हमारी कक्षा' तो एक तो अनूठी चीज़ है। नई बात है। इसमें नये तरीके से ही काम होता है। यह तो 'हमारी कक्षा' है न !'

'हमारी कक्षा' शब्द में दो-तीन बार ज़ोर देकर बोला और लड़कों पर उसका रंग चढ़ा। कहने लगे—'हमारी कक्षा ! हमारी कक्षा तो एक अनूठी चीज़ है। हमारी कक्षा याने एक नई बात !'

श्रुतलेखन के सम्बन्ध में मैंने एक हफ्ते के अन्दर ख़ास-ख़ास सभी सुधार कर डाले।

छात्रों से मैंने कह दिया कि वे प्रतिदिन घर से किसी भी किताब की चार लकीरें देखकर सही-सही लिख लाया करें। स्वयं मैंने उन्हें प्रतिदिन दस मिनट वाक्य लिखाना शुरू किया। आपस में एक-दूसरे को लिखाने, और एक-दूसरे की भूलें सुधारने के लिए भी उन्हें रोज़ के पन्द्रह मिनट मैंने सौंप दिये।

संयुक्ताक्षरों का शुद्ध लेखन सिखाने के लिए मैंने कठिन जुड़वाँ अक्षरों की और ख़ासकर चौथी किताब में आने वाले सारे जुड़वाँ अक्षरों की एक पोथी उन्हें बनवा दी और वह पोथी सबको बारी-बारी से पढ़ने और पट्टी पर लिखने के लिए दे दी।

चौथी पोथी में आने वाले कठिन हिज्जों की एक सूची बनाना मैंने शुरू कर दिया और उसका उपयोग भी सोच लिया।

अब हमारा काम ठीक चलने लगा था।

: ३ :

एक दिन पास के कमरे से एकाएक 'अरे बाप रे ! मरा रे! मार डाला रे !' की आवाज़ आई।

हमारे कान खड़े हो गये। मैं कहानी कह रहा था। लड़कों का ध्यान बरबस उधर चला गया। मैंने कहानी बन्द की और कहा—'एक विद्यार्थी जाकर देख आए कि बात क्या है ? कौन रोता है ? किसलिए रोता है ?'

एक समझदार लड़का देख आया और कहने लगा—'जी, उस कक्षा के जीवनलाल को मास्टर साहब ने पीटा है।'

मैंने कहा—'क्यों ?'

'उसे भूगोल याद नहीं था।'

मैंने फिर पूछा—'तो इसमें पीटने की क्या बात थी ?'

मेरा एक छात्र बोला—'जब कोई सबक़ याद करके न लाएगा तो और क्या होगा ?'

मैंने कहा—'लेकिन किसी को याद ही न रहता हो तो ?'

दूसरा बोला—'सबक़ तो याद होना ही चाहिए। न होगा तो मास्टर और क्या करेंगे ? सज़ा ही तो देंगे।'

मैंने पूछा—'लेकिन किसी को घोखने पर भी याद न रहे तो ?'

तीसरा बोला—'तो भी मास्टर तो ज़रूर मारेंगे। वह और कर ही क्या सकते हैं ? न याद रहेगा तो मारेंगे, पीटेंगे, सज़ा देंगे !'

मैंने कहा—'अच्छी बात है। तो बोलो, तुममें से कौन-कौन मार खाने को तैयार हैं ?'

सब बोले—'जो नहीं, तैयार तो कौन होगा ?'

मैं बोला—'मैं सबक़ दूं और तुम याद करके न लाओ, तो मुझे तुम्हें मारना चाहिए या नहीं ?'

'लेकिन हम सबक़ याद करके ही लाएंगे।'

'तुम उसे रटो और फिर भी तुम्हें याद न रहे तो ?'

'तो क्या...तो भी सज़ा न दीजियेगा, तो अच्छा है। मारेंगे तो लगेगी। हाँ, हमें याद रहे तो फिर पढ़ाइयेगा और हम फिर घोखेंगे।'

मैंने कहा—'खैर। तो अब हम फिर कहानी शुरू करें न ?'

लेकिन लड़कों का मन तो आज उस जीवनलाल में लगा था। वे कहते थे—'देखना भला, जीवन ऐसा तो उस्ताद है कि बाद में शिक्षक को गाली देगा, दीवार पर उनकी तस्वीर बनायेगा और उनके नाम गालियाँ लिखेगा।'

मैंने कहा—'जीवन को ऐसा नहीं करना चाहिए। शिक्षक के साथ ऐसा व्यवहार ठीक नहीं।'

सब कहने लगे—'लेकिन शिक्षक भी तो उसे बहुत ही पीटते हैं।'

मैंने कहा—'तो इसका कोई उपाय है ?'

लड़के बोले—'हाँ, उसे पीटना न चाहिए।'

मैंने कहा—'फिर सबक़ का क्या होगा ?'

लड़कों ने जवाब दिया—'जो सबक़ याद करके न लाये, उसे पाठशाला में से निकाल दिया जाये। नाहक़ मारने से क्या फायदा ? यदि पीटने से विद्या आती हो, तो लड़के पिटते तो रोज़ ही हैं न ?'

एक ने कहा—'अजी, जीवन का तो पढ़ने में मन ही नहीं लगता। उसे तो खरगोश पकड़ने का शौक़ है और ढोर चराने का वह रसिया है।'

दूसरा बोला—'भैया, जीवन मदरसे में ही पिटता है। बाक़ी बाहर तो वही सब लड़कों को पीटता है। हम सब उससे डरा करते हैं।'

मैंने पूछा—'वह किस जाति का है ?'

लड़कों ने कहा—'जी, वह जाति का कोली है। उसका बाप सरकारी नौकर है और उसे ज़बरदस्ती पढ़ाता है। पढ़ाने के लिए एक शिक्षक भी उसने रखा है।'

मैंने कहा—'खैर, गोली मारो इसे। चलो, हम तो अपनी कहानी पूरी करें।'

कहानी खतम करके हम उठे और इतने में घण्टी लगी। मैं सज़ा और उसके परिणामों का विचार करता-करता घर पहुँचा। मुझे तो किसी को सज़ा देनी ही न थी, इसलिए मैं तो अपने मन में निश्चिन्त था।

इसी तरह कुछ दिन और बीत गये।

: ४ :

एक दिन मैं बड़े साहब से मिला और मैंने कहा—'साहब, एक ऐसा हुक्म जारी कर दीजिये कि पाठशाला में आने वाले बालकों को साफ़ कपड़े पहनकर ही आना पड़ेगा। सिर पर टोपी रखनी है, तो वह मैली नहीं होनी चाहिए। बाल रखने हों, तो वे कंघी किये हुए होने चाहिए। हर हफ्ते बालक के नाखून काटने चाहिए और बाल बढ़े हुए हों, तो बाल भी। बिना बटन या अधूरे बटन का कोट कभी कोई पहने ही नहीं। हर एक विद्यार्थी नहा-धोकर ही शाला में आए; कम-से-कम मुँह और हाथ-पैर धोकर तो ज़रूर आए।'

साहब ने शान्ति से सुना, हँसे और कहने लगे—'क्यों, क्या माँ बाप तुम्हारे समझाये समझते नहीं ?'

मैंने कहा—'जी, उन्हें बहुतेरा समझाता हूँ, पर बात कुछ गले उतरती ही नहीं। अच्छे-अच्छे धनवान माता-पिता भी नहीं

समझते। कहते हैं—'बचपन में हम भी इसी तरह पाठशाला जाते थे।' कहते हैं—'रोज-रोज यह सब कौन करे ? भई, आपका काम पढ़ाने का है, तो पढ़ाइये न ?' यह सब तो हम देख लेंगे। अब तक बहुत कम सुधार हो सका है। और सच, तो यह है साहब, कि मैं तो ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ाना पसन्द ही नहीं करता।'

साहब बोले—'तुम बिलकुल सच कहते हो ! हमारा जन-समाज कुछ ऐसा ही है। इस समाज को संस्कारी बनाना, असम्भव को सम्भव करना है ! फिर भी जब से यह विभाग मेरे हाथ में आया है, तब से माँ-बापों पर भी हमारा कुछ ठीक असर पड़ा है।'

मैंने कहा—'तो आप यह हुक्म जारी न कीजियेगा ?'

'भई, ऐसा हुक्म तो मैं नहीं निकाल सकता। यह मेरे अधिकार से बाहर की बात है।'

'आपके अधिकार से बाहर की ? तो फिर आप इतने बड़े अधिकारी कैसे ?'

'भई, यह तो एक छोटी रियासत है। लेकिन दूसरी जगह भी अधिकारियों के हाथ में ऐसी सत्ता नहीं रहती।'

मैंने कहा—'तो फिर ?'

साहब बोले—'तुम बड़ी सत्ता को हिलाओ। वहीं से ऐसा हुक्म जारी हो सकता है। पर लोग इन हुक्मों का पालन कब करते हैं ? और अगर उन्होंने हमारा हुक्म न माना तो हम उनका क्या कर लेंगे ?'

'उनके बालक को पाठशाला से बाहर न निकाल देंगे ?'

'यह नहीं हो सकता। यदि हमने ऐसा किया तो बड़ा गुल-गपाड़ा मच जायेगा।'

मैंने कहा—'जी' हो तो सब सकता है। लेकिन बिना सत्ता के चतुराई किस काम की ? सच तो यह है कि हम शिक्षक हैं ही किस बिसात में ?'

साहब बोले—'खैर, यही सही। अभी तो जैसा चलता है, चलाये रक्खो'

'जी' सो तो हो नहीं सकता। आखिर मैं तो पाठशाला के अन्दर जितनी कोशिशें हो सकेंगी, कर छूटूँगा। बालकों में वैसी आदत पैदा करूँगा। यही नहीं, फुरसत मिलने पर इस सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से आन्दोलन भी करूँगा। और साहब, सच तो यह है कि लोग कितने ही बेपरवाह क्यों न हों, इसमें शक नहीं कि हमारे विद्यालयों का यह गन्दा वातावरण हजारों रोगों का घर है। हमें इसे मिटाना ही होगा।'

साहब ने कहा—'ठीक है, तुम जैसा चाहो, करो। प्रयोग करने तो आये ही हो। लेकिन यह चौथा महीना पूरा होने आया है। याद रखो, समय सरपट बीता जा रहा है।'

नमस्कार करके मैं घर आया। मैंने अपने खर्च से ('कण्टिन्-जेंसी' में तो था ही क्या कि कुछ खरीद सकता ?) दो उम्दा झाड़ू खरीदे। एक छोटा-सा आईना लाया, एक कंघा, खादी का एक तौलिया और एक छोटी-सी कैंची ख़रीदी। गनीमत थी कि पाठशाला के अहाते में पानी का एक नल था। उस दिन मैंने कक्षा में यह सब तैयारी करके रखी।

दूसरे दिन मैंने लड़कों को एक कतार में खड़ा किया। अब तो वे भली भाँति अभिमुख हो चुके थे। वे मुझ से प्रेम भी करने लगे थे। उन्हें विश्वास हो चुका था कि मैं जो कुछ करता हूँ, उनके लाभ का ही करता हूँ।

मैंने आईने में सब को उनके मुँह दिखाये और कहा—'देखो, अगर तुम समझते हो कि तुम्हारा मुँह, आँख या नाक गन्दी है, तो नल पर जाकर उन्हें धो लो। अपने हाथ-पैर भी धोओ और बाल भिगो लो।'

बस, सब 'हा-हू' करते हुए एक साथ भागे और एक पर एक गिरते-पड़ते मुँह, हाथ, पैर, वग़ैरा धोने लगे।

मैंने सोचा—इन लोगों को क्रम से चलना और क्रम से काम करना सिखाना पड़ेगा। इस तरह का लबड़-धबड़ काम तो हमारा सारा समाज करता ही है। इस फूहड़पन से तो हमें इन लोगों को बचाना ही चाहिए।

फौरन ही मैंने वहाँ एक लकीर खींच दी और कहा—'देखो, तुम सब इस लकीर पर खड़े रहो और बारी-बारी से नल पर जाओ।'

मैं दोनों हाथ में खादी के टुकड़े लेकर खड़ा रहा और लड़के दोनों तरफ से हाथ, पैर, मुँह, सिर आदि पोंछने लगे।

पाठशाला के अहाते में इस तरह का यह काम पहले-पहल ही हो रहा था। इसी कारण रास्ते चलते लोग देख रहे थे कि आज यहाँ यह क्या हो रहा है?

हाथ-मुँह आदि धो चुकने के बाद हम कक्षा में गये। वहाँ उन्हें कंघा देते हुए मैंने कहा—'देखो, अपने-अपने बाल सँवार लो।' टोपियां मैंने उनकी एक कोने में रखवा ही दी थीं। लड़के अब स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ दीखते थे। मैंने खड़िया मिट्टी से एक गोला बनाया और सबको उस पर बिठाया। मैं भी वहीं बैठा और मैंने उनसे कहा—'देखो, अब तुम्हारे हाथ कितने साफ़ हैं? तुम्हारा मुँह कितना सुन्दर लगता है? तुम्हें यह पसन्द है या नहीं?'

सबने कहा—'जी हाँ, पसन्द है?'

मैंने कहा—'तो देखो, रोज़ पाठशाला से आकर पहले तुम यह काम कर लिया करो। बाद में हम दूसरे काम करेंगे।'

उस दिन मुझे बहुत अच्छा लगा। मन मेरा प्रसन्न था। मैंने कहा—'आओ, आज हम एक कविता गायें।' पहली कविता जो मैं बोला, वह एक प्रार्थना थी। अनायास ही आज मेरे मुँह से प्रार्थना निकल गई।

उस दिन नाखून का काम रह गया। कप[illegible] और बैठने का तो बाक़ी था ही। फिर भी तत्काल [illegible] विचार छोड़कर मैंने उस दिन का दूसरा काम शुरू कर दिया।

: ५ :

मैंने सोचा, इतिहास की शिक्षा की नींव [illegible] कहानी द्वारा डाल ही चुका हूं। अब कविता की नींव लोकगीतों के [illegible] द्वारा डालूं। मैंने गहरे विचार के बाद ठहरा लिया था कि पहले छः महीने मुझे बुनियादी काम करना है और बाद के महीनों में मुझे उस पर विधिवत् पढ़ाई की इमारत खड़ी करनी है।

जब विद्यार्थियों को इस तरह की कोई नई बात मिलती है, तो उससे उन्हें विनोद के साथ आनन्द और प्रसन्नता भी होती है। मैंने लोकगीत का श्रीगणेश करते हुए कहा—'देखो, मैं तुम से गीत गवाऊँगा। तुम सब गाना।'

मैंने गाया—'कान्हा कलेजे की कोर, सखी री,
कान्हा कलेजे की कोर।'

लेकिन मेरे साथ कोई गा ही न सका।

मुझे आश्चर्य हुआ। चौथी कक्षा के विद्यार्थी इतना भी न गा सके ? पर उन्हें गाने की आदत तो थी ही नहीं ! मैंने दूसरा गीत छेड़ा—

'मेरा है मोर, मेरा है मोर;
मोती चरन्ता मेरा है मोर।'

अब की उन्होंने कुछ-कुछ गाया।

लेकिन पच्चीस तीस लड़कों ने एक साथ गाना शुरू किया, तो उनके कोलाहल से सारी कक्षा गूँज उठी !

पड़ोस के एक शिक्षक आये और बोले—'भाई, बस करो यह आवाज़ ! हमें तो कान पड़े सुनाई भी नहीं देता !'

दूसरे शिक्षक ने कहा—'ये महाशय तो रोज़ एक-न-एक नया नखरा निकालते हैं। ये हमें अपने छात्रों को सुख से पढ़ाने भी देंगे या नहीं ? इन्हें परवाह ही क्या है ? ये इस प्रयोग में सफल हो गये, तो साहब हमीं से कहेंगे कि लो, करो इस तरह और उस तरह; और यदि सफल न हुए, तो अपना झोली-झण्डा लेकर चल देंगे।'

इतने में प्रधानाध्यापक आ गये। बोले—'अजी लक्ष्मीशंकरजी ! यह कोई चटशाला है, जो यहाँ मुख-पाठ की तरह कविता गवा रहे हो ? देखो, ये इनके नये प्रयोग हो रहे हैं ! अरे, इन गीतों को तो सभी जानते हैं !' कहकर वे चल गये।

उनके जाने पर मैंने सोचा, भई, तुम बुरे फँसे हो। खैर। सहगान को अभी एक ओर रक्खो और गान-श्रवण शुरू करो।

मैंने लड़कों से कहा—'ठहरो; मैं गाऊँगा और तुम सब सुनना।'

मैंने 'नथ घड़ दे सोनारा रे, मोरी नथ घड़ दे सोनारा' पद गाया। मेरा राग तो गधे को भी मोहित करने वाला था। लेकिन संतोष इतना ही था कि वह बेसुरा न था। किसी तरह काम चला। मैंने मन में कहा, भगवान् ने मुझे एक कण्ठ और दे दिया होता, तो क्या कहना था ? चूँकि मैंने ढंग से और अभिनयपूर्वक गाया था और अभिनय का कुछ अभ्यास भी किया था, इसलिए मेरा गाना कुछ लड़कों को पसन्द आया। पर कुछ तो इस बीच आलस मरोड़ने लगे थे और कुछ एक-दूसरे की छेड़खानी भी करने लगे थे। वह चम्पकलाल तो कानी आँख बनाकर मेरी मसख़री ही कर रहा था। मैं भी यह सब देख रहा था। लेकिन मैं चुप रहा, क्योंकि उनकी इन्हीं आदतों को तो मैं सुधारना चाहता था।

जो छात्र संगीत के रसिया नहीं थे, उनसे मैंने कहा—'भई, तुम अलग जा बैठो। अपनी पट्टी पर जो चाहो, लिखो या कोई चित्र ही बनाओ।'

मैंने दूसरा गीत गाया। लड़कों की दिलचस्पी बढ़ी। फिर तीसरी चीज़ कही। उन्होंने दूसरे गीत को खूब पसन्द किया और मुझे वह फिर गाना पड़ा। जैसे-जैसे मैं गाता गया, उनका रस बढ़ता गया। अन्त में मैंने लड़कों से कहा—'देखो, मैं रोज़ तुम्हें ऐसे-ऐसे गीत गाकर सुनाऊँगा। लेकिन एक शर्त है, पाठशाला के अहाते में तुम उन गीतों को न गाना।'

पर दो दिन के अन्दर तो लड़के जहाँ-तहाँ 'नथ घड़ दे' गुनगुनाने लगे। मैंने उन्हें समझा दिया कि गाना ही चाहो, तो मदरसे के बाहर गाना; मदरसे में नहीं।

गाँव के लोग आपस में बतियाने लगे—'भई, ये गीत किस जात के हैं ?'

भगवान दर्जी ने कहा—'ये तो नवरात के गरबे मालूम पड़ते हैं।'

रघुजी बोले—'तो यह मास्टर कोई गरबे वाले होगा ? क्या यह गरबे सिखाने आया है ?'

लड़कों की मातायें कहने लगीं—'तुम्हारे मास्टर मदरसे में औरतों के गीत क्यों गवाते हैं ?'

पर अपने राम तो यह सब सुनी-अनसुनी ही करते जाते थे। सुनने बैठो, तो कान पक जाए और काम भी न चले। हमें तो बस जूझना चाहिए। नये क्षेत्र इसी तरह तो तैयार होते हैं।

मैं प्रतिदिन लड़कों के सामने नई-नई कवितायें गाने लगा और देखने लगा कि उन्हें कौनसी ज्यादा पसन्द आती हैं। ऐसा करते-करते मेरे पाँच-पन्द्रह गीत तो लड़कों को यों ही याद हो गये। हां, दो-चार लड़के ऐसे जरूर थे, जिन्हें संगीत से प्रेम ही न था। वे संगीत के समय में पढ़ते-लिखते रहते थे और मैं भी उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता था।

इन्हीं दिनों मैंने मन ही मन रास-क्रीड़ा का एक कार्यक्रम बना लिया था और मैं उसे आरम्भ करने का संकल्प भी कर चुका था।

इस समय मेरी कक्षा में लगभग इस प्रकार का काम चल रहा था : वार्ता कथन, पुस्तक वाचन, आदर्श वाचन, खेल, श्रुतलेखन कविता श्रवण, स्वच्छता और प्रार्थना।

: ६ :

एक दिन हमारी पाठशाला में एक परमहंस साधु आये। साथ में प्रधानाध्यापक भी थे। प्रधानाध्यापक ने उनका परिचय

देते हुए मुझ से कहा—'ये महाराज एक अच्छे धर्मोपदेशक हैं। विद्यार्थियों से इन्हें बड़ा प्रेम है। हर एक राज्य की पाठशालाओं में छात्रों को उपदेश करने की सुविधायें इन्हें प्राप्त हैं। आज ये साहब की चिट्ठी लेकर अपनी पाठशाला के छात्रों को उपदेश करने आये हैं।'

मैंने उन्हें आदरपूर्वक नमस्कार किया, कुर्सी दी और कहा—'तो भगवन्, आप अपना कार्य आरंभ कीजिये।'

मेरे लड़के तो महाराज के मुंड़े हुए सिर और मुँह की ओर ही देख रहे थे। उनका दुबला-पतला शरीर, कान्तिपूर्ण मुख-मुद्रा और हाथ का कमण्डल लड़कों के लिए एक कुतूहल की वस्तु बन गई थी।

मैंने विद्यार्थियों से कहा—'देखो बच्चो ! स्वामीजी उपदेश करेंगे, तुम सब ध्यान देकर सुनो।'

लड़के अब तो मेरी आज्ञा समझने लगे थे। वे शान्ति से बैठ गये।

स्वामीजी उपदेश करने लगे—'विद्यार्थियो ! इस जगत् में ईश्वर ही सबसे बड़ा है। यह दुनिया उसी ने पैदा की है। उसी के कारण यह जगत् है और वही हमारा आदि कारण है।'

इस तरह ईश्वर की महिमा कही जाने लगी। मैं चुप बैठा था। मेरे विद्यार्थी शान्त थे। लेकिन धीरे-धीरे उनमें अशान्ति फल रही थी। कोई आलस्य मरोड़ने लगा, कोई पट्टी पर कंकर से रेखायें खींचने और बिन्दु बनाने लगा, कोई किताबें उलटने-पलटने लगा, किसी की आँखें कुछ-कुछ लाल होने लगीं, कोई एक अँगुली दिखाकर बाहर गया। एक गया, उसके पीछे दूसरा भी गया। एक-दो छात्र आपस में बातें करने जा रहे थे। मैंने उन्हें चुप रहने का इशारा किया और वे चुप हो गये।

स्वामीजी से मैंने विनयपूर्वक कहा—'महाराज; कोई सरल-सी बात कहिये, जिसे ये छात्र समझ सकें।'

वैसे, स्वामीजी बड़े सरल स्वभाव के थे। तत्काल उन्होंने हिन्दू-धर्म की, उसके ग्रन्थों की और ग्रन्थों के विषय की चर्चा शुरू की। लेकिन छात्रों को उसमें भी मजा न आया।

मैं मन ही मन विचार कर रहा था—क्या धर्मोपदेश इसी तरह किया जाता है? क्या धर्म का तत्त्व, जो अति गूढ़ है और जिसे जानने के लिए सारा जीवन खपा देना पड़ता है, इसी तरह समझाया जा सकता है? क्या यही धर्म की शिक्षा और धार्मिक ज्ञान है? क्या धर्म का यह ज्ञान छूछा और निरुपयोगी नहीं होता?

मैं यह विचार कर ही रहा था कि इतने में स्वामीजी ने कुछ श्लोक पढ़ने शुरू किये। विद्यार्थी मन मारे उनकी बातें सुन रहे थे, लेकिन समझ नहीं सकते थे और इसीलिए अधिकतर केवल मनोविनोद की दृष्टि से हुँकारे दे रहे थे।

सचमुच स्वामीजी बड़े गंभीर भाव से बातें कह रहे थे। उनके विचार में उनका यह कार्य आवश्यक और पवित्र था। वे अपने कर्त्तव्य का ठीक ही पालन कर रहे थे, लेकिन लड़कों के लिए तो यह सब भैंस के आगे बीन बजाने-जैसा ही था।

अब स्वामीजी ने श्लोकों का अर्थ समझाना शुरू किया। लड़कों को वह भी सुनना पड़ा। फिर उन्होंने उस अर्थ को तख्ते पर लिखा और लड़कों से कहा कि वे उसकी नक़ल कर लें। इसके बाद स्वामीजी ने कहा—'इन श्लोकों को तुम प्रतिदिन प्रातः उठकर पढ़ा करो; साँझ को सोते समय भी इन्हें पढ़ो। इससे तुम्हारी बुद्धि बढ़ेगी, बल बढ़ेगा, तेज की वृद्धि होगी।'

मेरी कक्षा के दस-दस, बारह-बारह वर्ष के वे लड़के! उन्हें क्या पड़ी थी धर्म की और श्लोक की? लेकिन उन्होंने श्लोक लिखे और उनके अर्थ भी लिखे।

मेरे विचारों की शृंखला टूटी नहीं थी—क्या धार्मिक शिक्षा के लिए दूसरी कोई जगह नहीं रही कि अब वह पाठशालाओं में दी जा रही है? पहले तो देवालयों में प्रवचन हुआ करते थे और घरों में माता-पिता तदनुसार अपना व्यवहार रखते थे। घर के ये आचार-विचार लड़कों के लिए धार्मिक शिक्षा का काम देते थे। लेकिन अब या तो लोगों को धार्मिक प्रवचन सुनने की फुसरत नहीं है या बड़े-बूढ़े उन्हें सुन-सुनकर अब इतने तृप्त हो गये हैं या और ही कुछ हुआ है कि जिससे अब यह काम पाठशाला का अंग बन रहा है। मैं ये विचार कर ही रहा था कि इतने में घण्टी बज गई और मैं सोचता-विचारता घर को चला।

थके हुए लड़के स्वामीजी को प्रणाम करके अपने घर गये। रह गया मैं और स्वामीजी। मैंने कहा—'महाराज! आज की भिक्षा मेरे घर हो ग्रहण कीजिये न?'

हम जीमने बैठे। बातों ही बातों में धार्मिक शिक्षा की चर्चा छिड़ गई। स्वामीजी ने कहा—'देखो भाई, आजकल धर्म-जैसी वस्तु का लोप होता जा रहा है, इसलिए आरम्भ से ही धार्मिक शिक्षा द्वारा हमें नई पीढ़ी को आस्तिक बनाना होगा।

मैंने कहा—'किन्तु स्वामीजी, इन छात्रों के सुकुमार मस्तिष्क ईश्वर, आत्मा और धर्म-जैसे कठिन विषयों को ग्रहण कैसे कर सकते हैं? आज भाषण करते समय आपने अनुभव किया होगा कि उसमें उन्हें जरा भी रस न था और केवल सभ्यता के विचार से ही वे चुप बैठे हुए थे।'

स्वामीजी बोले—'भई, बात तो ठीक है। लड़कों को तो खेलना-कूदना ही अधिक प्रिय होता है। कथा-कहानी से भी उन्हें प्रेम होता है। लेकिन धर्म की चर्चा उन्हें पसन्द हो या न हो, उनके सामने करनी तो अवश्य चाहिए और कुछ धार्मिक श्लोक उन्हें कण्ठस्थ भी करा देने चाहिए।'

'किन्तु स्वामीजी! धर्म केवल जीभ पर ही नहीं रहता। धर्म तो एक जागृति है, जिसका अन्तस्तल में जागना ही उचित है। यह भावना तभी जागती है, जब मनुष्य को इसकी भूख लगती है। इसका भी अपना समय होता है। स्वामीजी! क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि यह सब छात्रों पर असमय का बोझ लादने के समान है?'

स्वामीजी जरा सोच में पड़ गये। मैंने फिर कहा—'महाराज! धर्म एक सत्य वस्तु है। वह मनुष्य के जीवन के लिए नौका के समान है। मनुष्य का जीवन-लक्ष्य संसार-सागर से पार होना है। लेकिन क्या यह सच नहीं कि यह सब बहुत कठिन है? साधारण बुद्धि की पहुँच से परे है और इसके लिए बहुत अधिक पूर्व उद्योग आवश्यक है।'

स्वामीजी ने कहा—'हाँ, यह बात ठीक है। लेकिन ···।'

मैंने जरा बीच ही में कहा—'धर्म कोई गाजर-मूली नहीं, न वह बाजारू वस्तु ही है। पुस्तक में छपी हुई बातें ही धर्म नहीं हैं। क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि ऐसी महत्त्व की बात को तो अधिक-से-अधिक गूढ़ और गुप्त रखना चाहिए और कठोर परिश्रम के बाद ही वह साधक को प्राप्त होनी चाहिए?'

स्वामीजी—'हाँ, इसीलिए तो हमारे पूर्वजों को गुरु के आश्रम में रहना पड़ता था और धर्म को समझने के लिए शरीर को कष्ट में डालना पड़ता था।'

मैंने कहा—'लेकिन आज तो हम घर-घर और मदरसे-मदरसे उपदेश करके लोगों में धर्म का प्रसाद बाँटने निकल पड़े हैं!'

स्वामीजी—'भई, यह कलियुग है न? आजकल गुरु के पास शिष्य-भाव से जाने वाले हैं ही कितने?'

मैंने कहा—'नहीं हैं, तो धरे रहें। धर्म को यों बेचने या भेंट धरने से कोई धर्मात्मा नहीं बन सकता!'

स्वामीजी—'तो आप ही बताइये कि क्या किया जाये?'

मैंने कहा—'मेरी समझ में तो छोटे बच्चों को धर्मोपदेश न करना ही अच्छा है। उन्हें तो इस समय स्वस्थ शरीर, तन्दुरुस्त मन, निर्मल बुद्धि और कभी न थकने वाली क्रियाशक्ति की आवश्यकता है—और आवश्यकता है, उन्हें हर तरह बलवान बनाने की।'

स्वामीजी ने कहा—'सच है, जो बलवान होंगे, उन्हीं में आत्मबल भी रहेगा।'

मैंने कहा—'मेरा तो अटल विश्वास है कि समय आने पर मनुष्य में यौवन और बुढ़ापे की तरह धर्म-जिज्ञासा का भी स्वयं विकास हो जाता है। असमय के गृहस्थाश्रम की भाँति असमय का यह धर्म-परिचय भी मुझे असामयिक ही मालूम पड़ता है। बचपन ही से धर्म को प्रतिदिन की चर्चा का और श्लोक-पाठ का विषय बना डालने से तो उलटे उसके विषय की सच्ची जिज्ञासा ही मन्द पड़ जाती है। धार्मिक क्रियाओं का भी अपना महत्त्व है, पर यह आवश्यक नहीं कि उन्हें इतना महत्त्व दे दिया जाय कि उनके कारण मनुष्य का विकास ही रुक जाय और मनुष्य जड़वत् बन जाय।'

स्वामीजी—'आप सच कहते हैं। मेरा भी कुछ ऐसा ही विश्वास है। इतने दिनों के अनुभव के बाद मैं यह तो महसूस कर ही रहा था कि इस प्रतिदिन के पिष्टपेषण से थोड़े ही समय में विद्यार्थी ऐसे विषयों से उकता जायंगे। मैं अब यह भी मानने लगा हूँ कि हमें किसी दूसरे ढंग से उन्हें धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए।'

मैंने कहा—'क्षमा कीजियेगा, स्वामीजी! मैं तो यह कहता हूँ कि हम धर्म को जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। माता-पिता भी प्रयत्न करें और शिक्षक भी प्रयत्न करें। पाठ्यपुस्तक में दूसरी कथाओं के साथ धार्मिक पुरुषों और प्रसंगों की कथायें भी दी जा सकती हैं। समय आने पर बालकों को दूसरी कथाओं की तरह पुराण और उपनिषद् की कथायें भी कही जा सकती हैं। जिस प्रकार हम ऐतिहासिक पुरुषों की कहानियाँ कहते हैं, उसी प्रकार बालकों को धर्मात्मा पुरुषों की कथायें भी सुना सकते हैं। बालकों के लिए शुरू के वर्षों में इतनी तैयारी पर्याप्त है। कर्मकाण्ड और श्लोक-पाठ, धर्म-शिक्षण और धार्मिक पुस्तकों के अभ्यास को हम भविष्य के लिए छोड़ सकते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'ऐसी दशा में आप मुझे क्या काम दीजियेगा?'

मैंने कहा—'बालकों की शिक्षा का। आप भी मेरी तरह उन्हें पढ़ाने बैठिये।'

स्वामीजी ने कहा—'स्वामी बनकर अब मैं शिक्षक का काम करूँ?'

मैं बोला—'यही तो आपका काम है महाराज! आप लोग बालकों की शिक्षा का काम सँभाल लें, तो अच्छे शिक्षकों का अभाव दूर हो जाये और इस दिशा में सच्चा काम होने लगे।'

स्वामीजी ने हँसते-हँसते हाथ-मुँह धोया।

उस दिन से स्वामीजी का और मेरा परिचय खूब बढ़ गया है। आजकल वे मुझ से नवीन शिक्षा-पद्धति का अध्ययन कर रहे हैं और मैं उनकी मदद से धर्म ग्रंथों का अभ्यास करता हूँ।

समय सरपट बीता जा रहा था और वर्ष के अन्त तक मेरा पाठ्यक्रम तो असाधारण सफलता के साथ पूरा होना ही चाहिए था। इसी में तो मेरे प्रयोगों की विशेषता थी।

मैंने सोचा, अब इन्हें इतिहास पढ़ाना शुरू करूँ।

: ७ :

मैंने इतिहास की पाठ्य-पुस्तकें देखीं, पर उनसे मुझे सन्तोष न हुआ। एक में घटनाओं का ग़लत उल्लेख था, दूसरी में दृष्टिकोण पुराना था, तीसरी निरे व्यवसाय की दृष्टि से लिखी गई थी, चौथी की शैली दोष-पूर्ण थी और जो सबसे अधिक प्रशंसित पुस्तकें थीं, वे छोटे विद्यार्थियों के लिए बिलकुल बेकार थीं।

मैंने सोचा, इन पाठ्य-पुस्तकों से तो काम नहीं चलेगा। तो क्या करूँ? कहानियों द्वारा इन्हें इतिहास पढ़ाऊँ, तो कैसा हो?

छात्रों को कहानी सुनने का शौक़ था ही। लेकिन अब तक मैंने उन्हें दूसरे ही प्रकार की कहानियाँ कही थीं—आधी सच्ची और आधी काल्पनिक; गप्पों की और परिस्तान की। इतिहास की कहानियों में ऐसी तो कोई बात आती नहीं थी। फिर भी मैंने एक कहानी शुरू की। रूखी-सूखी ऐतिहासिक घटनाओं को जोड़कर मैं कहानी कहने लगा। पर कुछ ही देर में लड़के घबरा उठे।

बोले—'भाईजी, यह तो कहानी नहीं है।'

'जी, ऐसी कहानी हम नहीं सुनेंगे ।'

'जी, कल सुनाई थी, वैसी सुनाइये ।'

'चलिये न साहब, खेलने चलें ?'

'जी, हम तो गीत गावेंगे ।'

मैंने सोचा, अबकी तो मैं पूरा असफल रहा !

छात्रों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया और धीरे से मेरा हाथ खींचकर वे मुझे खुले मैदान की तरफ ले गये ।

मैं रात घर आया और सोचने लगा, इन्हें सम्पूर्ण ऐतिहासिक सत्य कहने से तो काम नहीं चलेगा । ऐतिहासिक घटनाओं को प्रत्यक्ष देखकर लिखता भी कौन है ? शायद कहानी के रूप में ही इतिहास दिलचस्प बने, तो बने । और कहानी में कहानीपन तो अवश्य होना चाहिए । इसलिए मूल घटना के आस पास शक्य-सी कल्पित घटनाओं को सजाकर इतिहास पढ़ाऊँगा, तो ठीक होगा ।

दूसरे दिन मैंने एक कहानी शुरू की—'एक बड़ा-सा जंगल था । भीलों की वहाँ बस्ती थी । अजब उनका डील-डौल था । तीरन्दाज वे ऐसे थे कि उड़ते पक्षी को मार गिराते । उस जंगल में एक झोंपड़ी थी ।'

विद्यार्थी तत्काल कहानी के जादू में फँस गये और उसे पी जाने लगे । मैंने कहानी तो वीर वनराज की शुरू की थी, लेकिन घटनाओं के आस-पास रंग चोखा चढ़ा दिया था !

उन दिन कहानी अधूरी रही ।

दूसरे दिन छात्रों ने दूसरा काम होने ही न दिया ।

'बस, वनराज, वनराज, वनराज सुनाइये !'—वे सब पुकार उठे ।

मैंने वनराज की कहानी पूरी की । फिर ज़रा डरते-डरते उनसे पूछा—'जिन्हें यह कहानी दुबारा सुननी हो, वे खड़े हो जायँ ।'

एक-दो नहीं, बल्कि सबके सब खड़े हो गये ।

दूसरे दिन भी वही कहानी चली । यही क्रम तीसरे दिन, चौथे दिन और पाँचवें दिन भी रहा । छात्रों में से कोई खेलने और गाने का नाम ही न लेता था ।

मैं भी देख रहा था कि उनका यह आग्रह कब तक टिकता है ।

एक दिन किसी ने बड़े साहब के कान भर दिये—'जी, इस प्रयोग की सफलता-विफलता का निर्णय तो समय आने पर ही हो सकेगा । और तब आप हताश होकर शिक्षक से कहियेगा कि अरे, कुछ भी न हुआ ! लेकिन तब तक इन लड़कों का एक साल नाहक ही बिगड़ जायगा ।'

अवश्य ही मुझे इसका ज़रा भी आश्चर्य न था । जिन्होंने मेरी शिकायत की थी, उन्हें मैं जानता था । मेरे छात्रों को प्रति दिन कहानियाँ सुनने को मिलती थीं और वे मुझ से ख़ुश रहते थे । दूसरे शिक्षकों के छात्र कक्षा में अपना असन्तोष प्रकट करते थे । वे कहानी सुनना चाहते, पढ़ने में ध्यान न रखते और ऊधम मचाते; यही कारण था कि दूसरे शिक्षक मुझ से चिढ़े रहते थे ।

मैं कहता—'भाई, आप अपने रास्ते जाइये, मैं अपने प्रयोग करता हूँ । मेरे दिल में हिम्मत है । मुझे भी चिन्ता तो है कि लड़कों का नुकसान न हो और इसके लिए मैं मेहनत भी कर रहा हूँ । लेकिन मेरी अपनी रीति है और आपका अपना तरीक़ा है । आप लोग चाहें तो मैं अपनी कक्षा को यहाँ से दूर हटा सकता हूँ ।'

एक दिन हमारे साहब मेरी कक्षा देखने आये। वैसे तो वे भले आदमी थे, लेकिन कार्यक्रम में सारा समय कहानी का ही देखकर वे भी झुँझला उठे। मुझ से कहने लगे--'भई, ये लोग इस तरह इतिहास कैसे सीखेंगे ? जब तक कहानी कहोगे, तभी तक ठीक है। बाद में तो इस कान से सुनेंगे और उस कान से निकाल देंगे। इस तरह ये पढ़ेंगे क्या और गुनेंगे क्या ?'

मुझे भी उनकी यह बात कुछ जँची। मैंने सोचा—आखिर कहानी की मुख्य वस्तु तो छात्रों को याद रहनी ही चाहिए, नहीं तो इतिहास की परीक्षा में वे असफल रहेंगे। मेरे सिर परीक्षा का बन्धन तो था ही।

दूसरे दिन मैंने एक प्रयोग किया। कक्षा में वनराज की कहानी तीसरी बार चल रही थी। मैं उसे थोड़े हेर-फेर के साथ कहने लगा। तत्काल लड़कों ने मुझे पकड़ा और बोले—'जी! आप यह क्या कहते हैं ? पहले तो आपने एक हज़ार घोड़े बताये थे, अब पचास ही क्यों कह रहे हैं ? और पहले तो झोंपड़ी नदी के किनारे थी !'

मैंने मन में कहा, इन लोगों ने कहानी को समझा और हज़म तो किया है। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने सोचा, अब ये भूलेंगे तो नहीं।

लेकिन मेरी नमक-मिर्च लगाई हुई कहानी इतिहास के परीक्षक के लिए किस काम की ? मैंने सोचा, मुझे इन कहानियों को परीक्षक की दूरबीन में लाना चाहिए।

अपनी कही हुई सब कहानियां मैंने लिख डालीं और विद्यार्थियों से उन्हें पढ़ जाने को कहा। कहानियों के संक्षेप करने योग्य भाग मैंने संक्षेप कर डाले। कहीं-कहीं स्थान और काल का भी सही निर्देश कर दिया है। कहानी की कथन-शैली और लेखन-

शैली में स्वाभाविक भेद होता है। इन भेद को मैंने समझा और उसी ढंग से कहानियां लिखीं। विद्यार्थियों को मेरी ये कहानियाँ पढ़ने में बड़ा मज़ा आया। वे एकाधिक बार उन्हें पढ़ते देखे गये।

अभी तक मुझे हिम्मत न होती थी कि इस सम्बन्ध के प्रश्न पूछने पर विद्यार्थी मुझे सही उत्तर देंगे।

एक दिन मैंने एक कहानी को सूत्र रूप में लिखा। एक-एक वाक्य में एक-एक घटना पिरो दी और कहानी की वह रूप-रेखा छात्रों को पढ़ने को दी।

विद्यार्थी उसे पढ़ गये। पढ़ते-पढ़ते उन्हें अपनी सुनी हुई कहानी का स्मरण होने लगा। फिर एक दिन मैंने हिम्मत करके कहानी की घटनायें प्रश्नोत्तर द्वारा विद्यार्थियों से पूछनी शुरू कीं। मेरे अचम्भे का पार न रहा। मेरे सवालों का जवाब वे तड़ातड़ देने लगे। मुझे विश्वास हो गया कि अब वे न केवल परीक्षा में पास होंगे, बल्कि परीक्षा के बाद भी उन्हें इतिहास याद रहेगा।

कुछ दिन बाद मैंने प्रयोग की दृष्टि से अधिकारी महोदय को अपनी कक्षा में बुलाया और उनसे इतिहास में छात्रों की परीक्षा लेने की प्रार्थना की।

परीक्षा के बाद उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—'दूसरी कक्षाओं में भी इसी रीति से इतिहास पढ़ाया जाना चाहिए।'

मुझे उनके इन शब्दों से बड़ी तसल्ली हुई।

लेकिन अभी तो बहुत-कुछ बाक़ी था। चार महीने बीत चुके थे। फिर भी जो सफलता मुझे मिली थी, उससे मेरा उत्साह बराबर बढ़ रहा था।

तीसरा खण्ड

छः महीनों के अन्त में

: १ :

प्रति वर्ष की प्रथा के अनुसार इस वर्ष भी हमारी पाठशाला ने बहुत पहले से तैयारियाँ शुरू कर दी थीं। डायरेक्टर महोदय पधारने वाले थे। वे जब भी आते, पाठशाला में अवश्य पधारते। पाठशाला की तरफ़ से उस दिन एक जलसा किया जाता और छात्रगण उसमें संवाद करते, कवितायें गाते, क़वायद करते और फिर साहब अच्छा काम करने वाले छात्रों को इनाम देते। दूसरे छात्रों को भी कुछ-न-कुछ दिया जाता था और उस दिन सारी पाठशाला में मिठाई बँटती थी।

सब कक्षाओं के विद्यार्थियों को इकट्ठा करके हमारे प्रधानाध्यापक ऐसे छात्रों को चुन रहे थे, जो उनकी राय में अच्छे गाने वाले, अच्छे बोलने वाले और अच्छी तहजीब वाले थे। मेरे नाम भी इसी आशय की एक सूचना आई थी। लेकिन मेरी कक्षा के लड़के चुनाव में उपस्थित न थे। प्रधानाध्यापकजी ने मुझ से इसका कारण पूछा और मैंने जवाब में कहा—'जी, मेरी कक्षा के लड़के इस काम में भाग नहीं ले सकेंगे।'

'क्यों ?'

'यह सब तो सिर्फ़ डायरेक्टर महोदय को खुश करने और उनसे प्रशंसा पाने के लिए ही किया जा रहा है न ?'

'हाँ, यही तो हमारी पुरानी प्रथा है और हमारे अधिकारी महोदय की यही इच्छा है।'

'जी-हाँ, होगी। लेकिन मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता। मैं इसमें भाग नहीं लूँगा। मेरी कक्षा के लड़के भी नहीं आवेंगे।'

'तो मुझे साहब को इसकी सूचना करनी होगी। आप मेरे साथ सहयोग नहीं करते और मेरे काम में बाधा डालते हैं!'

'जी, आप अवश्य ही उन्हें लिखिये। मैं उन्हें समझाने की चेष्टा करूँगा।'

'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।'

उसी जोश और घबराहट में प्रधानाध्यापक जी ने साहब के पास मेरी शिकायत लिख भेजी।

जलसे के लिए पाठशाला के दूसरे लड़कों का चुनाव हुआ। श्यामसुन्दर और भीमाशंकर संस्कृत श्लोक बोलने के लिए देवासिंह और खेमचन्द कविता गाने के लिए, चम्पक और रमणीक, नेमीचन्द और सरजनलाल संवादों के लिए और बाक़ी के ऊँचे-पूरे, मोटे-ताज़े और दिखनौटे पाँच-पन्द्रह छात्र क़वायद के लिए चुने गये।

मैं मन-ही-मन काँप उठा। मैंने कहा, शाबाश है, प्रधानाध्यापक को और शाबाश है, इस शाला को और शिक्षा की वर्त्तमान रीति-नीति को! ······इनमें से हर एक छात्र ऐसा चुना गया है, जिसे अपने विषय से कोई सरोकार नहीं। श्यामसुन्दर और भीमाशंकर के कण्ठ कुछ सुरीले हैं, ब्राह्मण के लड़के हैं, घर में संस्कृत का वातावरण हैं, बस इसलिए वे पसंद किये गये हैं। लेकिन उन बेचारों

को लाख पचने पर भी कुछ याद ही नहीं रहता। श्लोक रट-रट कर उनका दम निकल जायगा। पर इस परिस्थिति में और हो ही क्या सकता है! मैं मन-ही-मन दु:खी होता हुआ घर गया। खाना खा ही रहा था कि इतने में बड़े साहब की चिट्ठी मिली—'कार्यालय में आकर मुझ से मिलिये, थोड़ा काम है।' मैं जानता था कि काम क्या है। भगवान् का नाम लेकर मैं साहब के कार्यालय में पहुँचा। मैंने देखा कि उनके मुँह पर गुस्सा था। मारे गुस्से के चेहरा तमतमाया हुआ था, भौंहें चढ़ी हुई थीं। निमूँछे होंठ कुछ-कुछ हिल रहे थे। बड़े ही नाराज़ दिखाई पड़ते थे। मुझे देखकर कहा—'बैठो', और फिर बोले—'तुम्हारी कक्षा के लड़के जलसे के कार्यक्रम में क्यों नहीं भाग लेंगे? उनमें कुछ लड़के तो सुन्दर और होशियार हैं।'

मैं मन में शान्त था, किन्तु दिमाग़ मेरा भी गरम था। मैंने जवाब में कहा—'तो क्या सुन्दर और होशियार लड़के दूसरों का मनोरंजन करने के लिए हैं? दूसरों के सामने नाच-कूदकर पाठशाला के लिए झूठी प्रशंसा प्राप्त करने को हैं?'

मेरा यह तेज़ जवाब सुनकर साहब कुछ शान्त हुए और बोले—'भई, हमारे लिए जलसा कोई नई बात नहीं है। कई वर्षों से यह रिवाज चला आया है। जब डायरेक्टर आते हैं, तब ऐसा होता ही है।'

'क्षमा कीजियेगा, साहब,' मैंने भी ज़रा नरम होकर कहा—'रिवाज चाहे जो रहा हो। मेरी राय में वह ठीक नहीं है। हमें उसे तोड़ना चाहिए। यह तो सरासर ढोंग और दिखावा है और डायरेक्टर साहब को भी धोखा देना है।'

'धोखा? धोखा कैसे?'

'जी, जो कुछ हम उन्हें दिखावेंगे, वह सब छात्रों को मार-मार कर और रटा-रटाकर ही तो तैयार किया जायेगा न? हमारी पढ़ाई का वह सच्चा और स्वाभाविक परिणाम तो होगा नहीं। कई दिनों तक रिहर्सल चलेगा, जोरों की रटाई होगी, तब कहीं लड़के तोतों की तरह उसे पढ़ेंगे और सो भी पीछे से मदद मिलने पर! इसमें लड़कों का समय और शक्ति दोनों नष्ट होंगे। उनकी पढ़ाई पिछड़ेगी। जिन छात्रों को जिस काम के लिए आज चुना गया है, वे उनके योग्य नहीं हैं। उन्हें तो मार-मार कर हो हकीम बनाना पड़ेगा।'

'लेकिन इसमें विश्वासघात क्या है?'

'जी, विश्वासघात तो यह है कि हम साहब पर यह असर डालना चाहते हैं कि हमारे लड़के होशियार हैं, हमारी पाठशाला सुन्दर है, हमारा काम नमूनेदार है। लेकिन असल में हम क्या हैं और क्या नहीं, सो तो हम अच्छी तरह जानते हैं।'

साहब कुछ देर को चुप रहे। बैठे विचार करने लगे। मैंने और कहा—'जी, हम लोग तो ढोंग करते ही हैं, लड़कों को भी हम उसी रास्ते ले जा रहे हैं। हमारे साहब भी हमसे खुश होने का अभिनय करेंगे और इनाम देते समय कहेंगे—'इन छात्रों ने जिस बुद्धिमानी, योग्यता और अभिरुचि का परिचय दिया है, उससे मैं बहुत खुश हुआ हूं। सचमुच इनमें से कुछ छात्र तो इस बात का सुन्दर विश्वास दिलाते हैं कि आगे चलकर ये अच्छे विद्वान्, उत्तम नागरिक और सच्चे मनुष्य बनेंगे। इन्हें उत्साहित करने के लिए कुछ पुरस्कार रखे गये हैं। मैं इस योजना का हृदय से स्वागत करता हूँ। आज इन छात्रों को ये पुरस्कार देते हुए मुझे बहुत आनन्द हो रहा है।' क्या ये बातें उनके हृदय से निकलेंगी? क्या वे नहीं जानते कि यह सारा कार्यक्रम केवल

उनकी खुशामद के लिए है ? इन इनाम पाने वाले लड़कों से रटाया न जाये, विशेष परिश्रम के साथ इन्हें तैयार न किया जाये, तो यूँही ये कैसे विद्वान्, नागरिक और मनुष्य हैं, सो तो आप, हम और इनके माँ-बाप सभी भलीभाँति जानते हैं ।'

साहब ने कहा—'भई, तुम पढ़े तो हो, लेकिन गुने नहीं हो । व्यवहार की बातों में अभी बहुत कच्चे हो । तुम्हारे लिए सभी बातें सिद्धान्तमय हैं। लेकिन हमें तो सभी तरफ देखना पड़ता है ।'

मैंने कहा—'जी, सच है । फिर भी मैं इसमें भाग नहीं ले सकूँगा । मुझ से यह धाँधली सहन न होगी ।'

'तो तुम क्या करोगे ?'

'जी, मेरी कक्षा को आप इस प्रपंच से मुक्त रखिये ।'

'लेकिन इससे तो बड़ी कठिनाई पैदा होगी । भला, दूसरे शिक्षक और अधिकारी मुझे क्या कहेंगे ? और मेरी कठिनाइयाँ कितनी बढ़ जायँगी ? अरे, मुझे तो यह आशा थी कि तुम्हारी कक्षा के अच्छे लड़कों को देखकर साहब अधिक प्रसन्न होंगे । पर तुम तो…'

मैंने कहा—'जी, आप मुझे इससे तो मुक्त ही रखिये । मैं डायरेक्टर महोदय के मनोरंजन के लिए कुछ करूँगा । मैं ऐसा कुछ प्रबन्ध करूँगा कि लड़कों का समय भी बरबाद न हो, शक्ति का अपव्यय भी न हो और उन्हें ढोंग और दिखावा भी न करना पड़े । आप उन्हें मेरी कक्षा में लाइयेगा । मुझे विश्वास है कि मेरे कार्यक्रम से आप और वे दोनों प्रसन्न होंगे ।'

वे कुछ देर तक सोचते रहे, फिर मुस्कराये और मुझसे बोले—'अच्छा, तुम एक काम करो । मैं तुम्हारे प्रधानाध्यापक के नाम एक पत्र लिखे देता हूँ । वह तुम्हें इस काम से मुक्त रखेंगे । लेकिन देखो, तुम उन्हें चिढ़ाना नहीं । वे बेचारे पुराने खयाल के

आदमी हैं और तुम हो उमंग भरे नौजवान । मुझे तो दोनों को सँभालना है और तुम तो जानते ही हो कि यह काम कितना कठिन है ।'

मैंने मन-ही-मन साहब की प्रशंसा करते हुए कहा—'अच्छा साहब, तो अब आज्ञा हो ?'

* * *

पाठशाला में आज सम्पूर्ण उत्साह के साथ तैयारियाँ चल रही थीं । साहब पधारेंगे ! डायरेक्टर साहब पधारेंगे !

बड़े और छोटे अफ़सर, गाँव के नागरिक और जनता, विद्यार्थी और शिक्षक सभी आ चुके थे । मेरे साथी शिक्षकों की अजीब हालत थी । दिल धड़क रहा था, चेहरे पर उदासी थी, फिर भी तनकर खड़े रहने की कोशिश कर रहे थे और अपने-अपने काम में लगे हुए थे । प्रधानाध्यापकजी ने हमारी पाठशाला के ऊधमी लड़कों को एक ओर बुलाया और उन्हें धमकाते हुए कहा—'देखो, हरामखोरो ! ज़रा भी ऊधम या गड़बड़ मचाई है, तो कल बुरी तरह धुनक दूँगा, समझे ! '

तालियों की गड़गड़ाहट और संगीत के साथ डायरेक्टर साहब पधारे ! प्रधानाध्यापक ने पाठशाला का वार्षिक विवरण बड़ी छटा से और बुलन्द आवाज़ के साथ इस तरह पढ़कर सुनाया, मानो लोगों को यह विश्वास दिला रहे हों कि वे काँप नहीं रहे हैं ! इसीलिए वे बार-बार तनकर पढ़ते थे । पर विवरण समाप्त होने से पहले ही अन्दर से उनका कुर्ता प्रायः भीग चुका था और उनकी आवाज़ में खरखरापन आ चुका था । विवरण-वाचन के बाद 'रेसीटेशन्स', अर्थात् कविता-पाठ और संवाद शुरू हुए । लड़के ग्रामोफोन की तरह कविता पढ़ने लगे । उनके मुँह पर किसी भी प्रकार के कोई हाव-भाव न थे । वे ज़ोर से और हाथ-पैर हिला

कर बोलते थे। दु:ख केवल इतना ही था कि जो कवितायें पसंद की गई थीं, वे सुन्दर, सरस और अच्छे कवियों की होते हुए भी इतनी कठिन थीं कि छात्र उन्हें समझ नहीं सकते थे। बेचारे बिना समझे पढ़ते थे, पढ़कर के अभिनय करते थे और अपनी 'रसिकता' का परिचय देते थे। यही हाल संवादों का था। संवाद तो उपदेश-पूर्ण ही होते हैं। जो उपदेश बड़ों के मुंह में शोभा देते, वे ही बालकों के मुँह में लज्जा का कारण बन रहे थे। उपदेशों का यह प्रहसन बहुत ही बेहूदा था। अकेला मैं ही नहीं, स्वयं डायरेक्टर साहब भी इसे अनुभव कर रहे थे। इसी कारण वे मूंछों में हँस भी रहे थे। मेरे साथी शिक्षक तटस्थ होकर इसे देखने का प्रयत्न करते, तो उन्हें भी ऐसी ही प्रतीति होती।

सम्मेलन समाप्त हुआ। साहब ने आभार माना। अपना हर्ष प्रकट किया। इनाम बाँटे गये। प्रधानाध्यापक, बड़े अधिकारी और दूसरे सब आज के इस कार्य से सन्तुष्ट दीखते थे। साहब ने शिष्टाचार के रूप में कहा—'आपकी पाठशाला का काम देखकर मुझे संतोष हुआ है।'

इतने में हमारे साहब ने बड़े साहब से बिनती की—'चौथी कक्षा के ये शिक्षक आपको अपना कुछ काम दिखाना चाहते हैं। उस परदे की आड़ में इन्होंने कुछ प्रबन्ध किया है।'

साहब ने बड़ी सदाशयता का परिचय दिया—वे तत्काल सहमत हो गये। मैं परदे के पीछे चला गया। तीसरी घण्टी के साथ मैंने परदा खोला। बीच में मैं और आसपास मेरे विद्यार्थी थे। हमारी कक्षा में प्रतिदिन गाया जाने वाला एक गीत हम प्रार्थना के रूप में गा रहे थे। कमरे में शान्ति का साम्राज्य था। सब इस विचार में पड़े थे कि एकाएक यह नाटक कैसा?

प्रार्थना के बाद छात्रों ने 'कचहरी में जाऊँगा' नामक एक खेल शुरू किया। एक लड़का चूहा बना। कमर से रस्सी बाँधकर

उसने अपनी पूँछ बनाई थी। सिर पर काला कपड़ा ओढ़े था और चार पैरों से चलकर वह 'चूं-चूं' कर रहा था। एक लड़का दर्जी, दूसरा बेल-बूटे वाला, तीसरा मोती वाला, चौथा मृदंग वाला, पाँचवाँ राजा और छठा राजा का सिपाही बना था। मैं छठा था, मैं राजा का सिपाही था।

पात्र सब हमेशा की सादी पोशाक में थे। राजा टेबल पर रोब गाँठे बैठा था। सिर पर तिरछी टोपी पहने था। सिपाही ने अर्थात् मैंने, अपनी मूँछों पर ताव देकर मूँछें खड़ी कर ली थीं। साफ़ा कुछ टेढ़ा बाँध लिया था और हाथ में एक छुरी थी। मृदंग वाले के पास मृदंग था। दूसरे सब खाली हाथ थे।

हमारा रंगमंच बिलकुल सादा था। परदे के पीछे एक तख्ते पर सारा कार्यक्रम लिख रखा था। कमरा साफ़, झाड़ा और बुहारा हुआ था। फ़र्श पर एक छोटी दरी एक छात्र के घर से मँगाकर बिछाई थी। पाठशाला में ऐसी कोई चीज नहीं थी, जो रंगमंच की शोभा के लिए रखी जा सके। फिर भी पीपल और नीम की डालियाँ काटकर पत्तियों से दीवारें सजा दी गई थीं। फर्श पर लड़कों ने रंग-बिरंगी खड़िया से अपनी पसन्द के चित्र बनाये थे। चूहे का नाटक शुरू हुआ और खतम हुआ। बड़े और छोटे सब शान्त भाव से देखते रहे। छोटे यानी विद्यार्थी तो बड़ी ही दिलचस्पी के साथ देख रहे थे—बड़े भी आश्चर्य में डूबकर देख रहे थे।

'यह क्या? यह नवीनता कैसी? यह नाटक कैसा?'

मुझे कहना चाहिए कि लड़कों ने नाटक सुन्दर ढंग से खेला था। वे भूलें नहीं कर रहे थे। 'प्रॉम्पटर' कोई रखा ही न गया था। जहाँ ज़रा भी ग़लती का शक होता था, वहाँ मैं ही प्रकट रूप से उसे सुधार देता था।

दूसरा नाटक 'बुढ़िया' का और तीसरा 'खरगोश' का खेला गया।

ले-दे कर परदा एक ही था। सीन-सिनरी नाम लेने को भी न थी। लड़के कभी सिर पर कपड़ा ओढ़ लेते थे, तो कभी हाथ में छड़ी ले लेते थे। बाक़ी सारा आधार तो लड़कों के अभिनय पर ही था।

अन्तिम प्रार्थना के बाद नाटक का कार्य समाप्त हुआ और मैं रंगमंच पर आया। मैंने नाटक के मैनेजर की हैसियत से अपने दर्शकों से कहा—'सज्जनो! हमारे इन नाट्य प्रयोगों को शांति-पूर्वक देखने के लिए हम हृदय से आपका उपकार मानते हैं। इस सम्बन्ध में मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ। आशा है, आप सुनने की कृपा करेंगे।

'ये चौथी कक्षा के विद्यार्थी हैं। जब मैंने इनसे पूछा कि इस अवसर पर हम भी अपने नाटक क्यों न खेलें, तो ये सहर्ष तैयार हो गये। इन्होंने बड़े उत्साह और तत्परता का परिचय दिया। तुरन्त ही नाटक पसन्द किये गये। जो कहानियाँ इन्होंने पढ़ी और सुनी थीं, आपके सामने अभी उन्हीं का अभिनय ये कर चुके हैं। मैंने इनसे कहा था कि जिस तरह हर हफ्ते हम बिना किसी तैयारी के नाटक खेलते हैं, उसी तरह इस बार भी खेलेंगे। हमारी कक्षा में कोई चीज़ रटाई नहीं जाती। छात्रों को कहानी की वस्तु भलीभाँति याद रह जाती है। हर पात्र जानता है कि कहानी में उसका कथन क्या है। फिर तो रंग-मंच पर कहानी का सम्बन्ध बनाये रखकर प्रसंग के अनुसार ये यथेच्छ वार्तालाप कर लेते हैं। इसमें किसी छात्र को कभी अपना पार्ट याद करने की आवश्यकता नहीं रहती। सीन-सिनरी और वेश-भूषा तो नाटक के गौण अंग हैं, महत्त्वपूर्ण अंग तो अभिनय और भाव-प्रदर्शन का है। हम इसी पर विशेष ध्यान देते हैं। वेश-भूषा की अधिकता नहीं रखते। इससे अभिनय को विकास का पूरा अवसर मिलता है। आपने

अभी यहाँ जो कुछ देखा है, उससे आपको भी यही प्रतीति हुई होगी। मेरे छात्रों को इस कार्य में बड़ा मज़ा आता है। वे इसे हृदय से चाहते हैं। उन्हें कभी शाबाशी देने का काम नहीं पड़ता। अपने काम से उन्हें अपने-आप ही सम्पूर्ण संतोष हो जाता है।

'सज्जनो! जिस प्रेम और शान्ति से इन छात्रों के ये नाटक आपने देखे हैं, उसके लिए मैं पुन: आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।'

डायरेक्टर साहब के मुँह पर प्रसन्नता खेल रही थी। मैं बड़ी देर से इस बात को देख रहा था। वे तुरन्त ही उठे और बोले—

'I cannot but congratulate both the teacher and the taught for the real treat they gave us this afternoon. It was splendid! I felt, I was in a new School in my country—England. It was really charming to see little kiddies playing mouse and taildr and king and so forth and so on, all spontaneous and free. All recitation and cramming is a thing of the past. Oh! It's a terrible demon! It's ugly, soul-killing.'[1]

---

(१) श्री लक्ष्मीशंकर और उनके विद्यार्थियों ने अभी-अभी जिस रूप में हमारा वास्तविक मनोरंजन किया है, उसके लिए मैं उनका अभिनन्दन करता हूं। उनका काम सचमुच ही सुन्दर था। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं अपनी मातृभूमि—इंग्लैंड में हूं। वह दृश्य निस्सन्देह अद्भुत था, जबकि ये नन्हें-नन्हें बालक स्वयंस्फूर्ति से चूहे, दर्जी और राजा का अभिनय कर रहे थे! 'रेसीटेशन' और रटे हुए संवादों का ज़माना अब लद चुका है। ये चीजें वास्तव में क्रूर, असभ्य और आत्मा का नाश करने वाली है।

इतना कहकर वे कुछ ठहरे और फिर कहने लगे—

'I again say, I am very happy to see this. I won't give them prizes. The genuine pleasure they felt while acting, is a greater and better reward than any thing else. I am very glad indeed; very, very glad.'[2]

सम्मेलन समाप्त हुआ । लोग अपने-अपने घर गये ।

साहब की खुशी का ठिकाना न था । उन्होंने बड़े साहब के साथ मेरा परिचय कराया और मेरे प्रयोग की बात भी कही । साहब ने मेरे साथ हाथ मिलाते हुए कहा—

'Bravo ! you are success ! Go on with your experiments. This is something ! Rest is sham and bosh !'[3]

डायरेक्टर के इन शब्दों ने मेरे साहब के मन में कैसी गुद्गुदी और कितना गर्व पैदा किया होगा, आप ही सोच लें ! मैं तो प्रसन्न था ही ।

मैं घर गया । सचमुच आज मैं आनन्द-मग्न था । साहब ने मुझ से हाथ मिलाया और मुझे शाबाशी दी, यह एक कारण था । पर सच्चा कारण तो यह था कि आज मेरे प्रयोगों की क़द्र

(२) मैं फिर कहता हूं कि आज का यह काम देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ है । इसके लिए मैं इन्हें इनाम नहीं दूंगा । नाटक खेलते समय इन्हें जो वास्तविक आनन्द हो रहा था, इसके लिए वही सच्चा इनाम है । सचमुच, आज मैं बहुत ही खुश हूं ।

(३) शाबाश ! आप अपने काम में सफल हुए हैं ऐसे प्रयोग बराबर करते रहिये । असल शिक्षा तो इसी में है और तो सब निरुपयोगी है, निरा ढोंग है !

की गई थी । मैंने सोचा, साहब तो एक पोलिटिकल अफ़सर हैं । उन्हें इस नई पाठशाला और इसके सम्बन्ध की समस्त बातों का क्या पता होगा ? लेकिन बाद में मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने अपने लड़के को यूरोप की किसी नई-से-नई पाठशाला में पढ़ने के लिए भरती कराया है और इसीलिए वे नई शिक्षा से प्रेम रखते हैं ।

रात मेरे दो-चार साथी शिक्षक मुझ से मिलने आये । वे मुझे पूछ ही रहे थे कि डायरेक्टर साहब ने मुझ से क्या कहा और क्या नहीं कि इतने में तो हमारे अफ़सर की चिट्ठी आ गई और मैं उनके घर चला गया ।

साहब आज प्रसन्न थे । डायरेक्टर साहब ने पाठशाला के काम से सन्तोष जो प्रकट किया था ! जाते ही साहब ने मुझे कुर्सी दी और स्वयं आरामकुर्सी पर लेटते-लेटते बोले—'भाई, पहले मुझे यह तो बताओ कि लड़कों ने नाटक रटे थे या नहीं ?'

मैंने कहा—'जी, आपके मन पर उनके काम की कैसी छाप पड़ी थी ?'

साहब ने कहा—'मैं तो बहुत खुश हुआ हूँ, लेकिन लड़कों ने यह सब याद कैसे किया होगा ? उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से बातें की थीं ।'

मैंने कहा—'जी, आप सच कहते हैं । मैंने उन्हें कहानियाँ सुनाई थीं । कहानियाँ उन्हें पसन्द आई थीं । कहानी के पात्रों के मनोभावों के साथ उन्होंने एकतानता का अनुभव किया था । जो बातें उन्होंने वास्तव में अपना ली थीं, उन्हीं को वे अपने ढंग से प्रकट कर रहे थे ।'

साहब ने पूछा—'लेकिन अभिनय उन्हें किसने सिखाया ?'

मैंने कहा—'सिखाता कौन ? हम हर हफ्ते नाटक खेलते हैं। मैं स्वयं उसमें भाग लेता हूँ और लड़के तो सम्मिलित होते ही हैं। मैं अपने पात्र के हावभाव, जैसे मुझे आते हैं, उनके सामने प्रकट करता हूं। लड़के भी अपने पात्रों के हाव-भाव प्रकट करते हैं।'

साहब ने कहा—'लेकिन यह होता कैसे है ? मैं तो समझ नहीं पाया ?'

मैंनें कहा—'साहब, छात्रों की आँखें खुली रहती हैं न ? वे दर्जी, बढ़ई, कुम्हार, चूहों आदि को देखते हैं, उनकी बातें सुनते हैं। कहानी में उनका जो वर्णन आता है, उसे भी वे सुनते हैं। ईश्वर ने उन्हें कल्पना-शक्ति भी दी है, इसलिए वे अनुभव और कल्पना का मेल मिलाकर अभिनय करते हैं। उनको जैसा सूझता है, वैसा करते हैं। वे खुद ही अपने परीक्षक होते हैं। वे देख लेते हैं कि अनुभव और कल्पना को रंगमंच पर किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।'

साहब ने कहा—'अजी, ये तो बहुत ही गम्भीर और कठिन बातें हैं।'

मैंने कहा—'जी हाँ, किन्तु लड़कों को इन बातों का ऐसा खयाल थोड़े ही होता है ? यह तो मैं हूं कि उनके कार्यों का पृथक्-करण करके आपको सुना रहा हूँ।'

साहब ने कहा—'ठीक है। I see (मैं समझा)। भई, सचमुच आज तो तुमने कमाल ही कर दिया ! डायरेक्टर साहब आज बहुत ही खुश थे।'

मैंने कहा—'और वे खुश न होते, तो भी नाटक का काम तो जारी ही रहता।'

साहब बोले— 'किन्तु तुमने अपने इन प्रयोगों की बात मुझसे तो कभी कही ही नहीं। शायद प्रधानाध्यापक और दूसरे शिक्षक भी नहीं जानते थे।'

मैंने कहा—'जी, सच है। मैंने कभी उनसे इसका ज़िक्र नहीं किया। उनके विचार में तो यह सब फ़जूल है। वे तो छ:माही परीक्षा के लिए 'कोर्स' तैयार कराने में लगे हैं।'

साहब ने पूछा—'लेकिन उन्हें पता तक न चला, यह कैसी बात है ?'

मैंने कहा—'जी, हम हर हफ्ते बाहर घूमने जाते हैं और वहीं खेल के रूप में यह सब किया करते हैं। मैं अपने साथ एक चादर ले जाता हूं। उसी का परदा बना लिया जाता है। दो लड़के उसे पकड़ कर खड़े हो जाते हैं। इस तरफ देखने वाले और उस तरफ खेलने वाले !'

साहब ने पूछा—'क्या सच ?'

मैंने कहा—'जी, ठीक ही कहता हूँ।'

साहब—'अच्छा, तो अब मैं अपनी पाठशाला की सब कक्षाओं में नाटक का कार्यक्रम भी रखूँगा। डायरेक्टर साहब को तो यह बहुत ही पसन्द है। सचमुच नाटक बड़ी सुन्दरता के साथ खेले गये थे। 'रेसीटेशन' आदि का झगड़ा न रखें तो हानि ही क्या है ?'

मैंने कहा—'जी, मैं तो इसी विचार का हूँ। फिर जैसा आप चाहें, कर सकते हैं।'

साहब ने कहा—'बस, मैं यही करूँगा। बड़े साहब भी तो यही कहते थे कि Be damned cramming, yes, I also remember my days of cramming. (सत्यनाश हो इस रटाई का ! हाँ, मुझे भी अपने वे दिन भलीभाँति याद हैं, जब मैं भी रटा करता था।)

पर चूँकि मैं बचपन से ही थोड़ा बुद्धिशाली रहा हूँ, इसलिए मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई। दूसरे लड़के तो बेचारे रट-रट कर मरे जाते थे। Be damned cramming !'

मैं अपने मन में मुस्करा रहा था। मैंने सोचा, आज बड़े साहब के पधारने से बड़ा काम बन गया ! मेरे प्रयोगों में आज का यह अनुभव भी महत्त्व का है। मैं घर गया और सो रहा।

: २ :

छःमाही परीक्षा पास आ लगी थी। दूसरी कक्षाओं में पिछला दोहराया जाने लगा था। इतिहास, भूगोल, गणित और भाषा की रटाई फिर शुरू हो गई थी। एक बार तो उनका छःमाही अभ्यास पूरा भी हो चुका था। मेरी अपनी गाड़ी अभी कोसों दूर थी और यदि परीक्षा की दृष्टि से सोचूँ, तब तो मैं बहुत ही पिछड़ा हुआ था लेकिन फिर भी मुझे अपनी कक्षा की परीक्षा तो दिलानी ही थी।

पुनरावर्तन में समय बिताने की मुझे जरूरत न थी। मेरा उतना समय बचने ही वाला था। मेरी पढ़ाई अन्त तक चलने वाली थी, क्योंकि मेरी कक्षा में जो कुछ होता था, उसका पुनरावर्तन विद्यार्थी स्वयं ही कर लिया करते थे। मैंने ऐसी योजनायें भी बना रखी थीं कि जिनसे विद्यार्थी अपना पढ़ा हुआ दोहरा लिया करें। उदाहरणार्थ, अन्त्याक्षरी आदि के खेलों में कविताओं का पुनरावर्तन वे बार-बार कर ही लेते थे।

लेकिन अभी तक मैंने भूगोल, पदार्थ पाठ और व्याकरण को छुआ तक न था। मैंने सोचा, अब मैं व्याकरण शुरू करूँ। व्याकरण एक कठिन विषय माना जाता है और इस विषय से विद्यार्थियों को सहज ही कोई दिलचस्पी भी नहीं हो सकती। चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा का पदच्छेद करने में भला

क्यों आनन्द आने लगा ? उसमें ऐसा कौनसा रसिक तत्त्व है, ऐसी कौनसी वस्तु है, जो उनके लिए आनन्ददायक हो या जीवन के लिए उपयोगी कोई ज्ञान प्राप्त कराती हो ? ऐसा कौनसा स्थल है, जहाँ पहुँच कर विद्यार्थी यह कह सके कि वाह, इसमें तो बड़ा ही आनन्द है ! यह तो बड़ी ही उपयोगी चीज़ है ! इसी कारण मैंने अपना यह विचार बना रखा है कि व्याकरण की शिक्षा बड़ी उम्र के उन्हीं विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त हो सकती है, जो भाषा की शिक्षा में दिलचस्पी लेने लग गये हों। प्राथमिक पाठशाला से तो यह विषय निकल ही जाना चाहिए। जो विषय सीखने में कठिन हो और जिसे सीखते-सीखते विद्यार्थी ऊब जाये, वह सिखाया ही क्यों जाये ? ज्ञान के दूसरे विषयों का कौन अभाव है, जो ऐसे रूखे और अनुपयुक्त विषय छात्रों को सिखाये जायँ ?

पर मेरे लिए तो यह प्रयोग अनिवार्य ही था। वैसे भी, कम से-कम अपनी शर्त के अनुसार, परीक्षा के समय तक तो मुझे यह विषय भी छात्रों को भली भाँति सिखा देना जरूरी था। तात्त्विक विचारों के कारण व्यवहार में इसे अपने प्रयोगों से मुक्त रखना मेरे लिए उचित न होता। मुझे तो यह सिद्ध करना था कि आजकल की चौथी कक्षा में भी यह विषय किस प्रकार अच्छी तरह सिखाया जा सकता है।

मैंने व्याकरण का 'कोर्स' पढ़ा और सोचा कि मैं इस क्रम से तो नहीं चलूँगा। संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद आदि की परिभाषायें रटी तो बड़ी जल्दी जा सकेंगी, परन्तु समझ में उतनी जल्दी न आ पायेंगी। जब बचपन में मुझे यह विषय समझाया जाता था, तो मैं भी इसे समझ नहीं पाता था; केवल याद-भर रख लेता था। पर मेरे शिक्षकों को इसी से यह भ्रम हो जाता था कि मैं विषय को भली भाँति समझ चुका हूँ। मैंने प्रचलित प्रथा को तो नमस्कार

करना ही उचित समझा । अब सवाल यह उठता था कि व्याकरण पढ़ाया किस रीति से जाये ? मैंने इस पर विचार किया, एक योजना भी बना डाली और तदनुसार काम करने लगा। सचमुच विद्यार्थियों को बड़ा मजा आया। उनके लिए वह एक सुन्दर खेल हो गया और दो महीनों में तो वे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियापद और अव्यय पहचानना और उन्हें वाक्यों में से चुनकर दिखाना सीख गये। एकवचन और बहुवचन, स्त्रीलिंग और पुल्लिग का भेद भी वे समझ गये । मैं कर्त्ता और कर्म को पहचानने की योजना पर विचार ही कर रहा था कि इस बीच एक दिन, जब हमारी कक्षा में व्याकरण के खेल चल रहे थे, एका एक श्रीमान् डिप्टी डायरेक्टर महोदय आ पहुँचे । उन्होंने मेरा कार्य देखा और दंग रह गया । कहने लगे—'भई, लड़कों को ताश खेलना क्यों सिखलाते हो ? छ:माही परीक्षा नजदोक आ रही है, जरा तेजी से काम लो । देखो, कहीं हमें नीचा न देखना पड़े । याद रखो, तुम्हें अपना प्रयोग सफल करके दिखाना है !'

मैंने हंसकर कहा—'जो, मुझे इसकी पूरी-पूरी चिन्ता है । ये तो व्याकरण के खेल चल रहे हैं । आप जरा व्याकरण में इन छात्रों की परीक्षा तो लीजिये !'

साहब ने छात्रों से दो-चार सवाल पूछे । फिर मुझ से कहने लगे—'ओहो ! यह तो बड़ा ही सुन्दर काम हुआ है! तुम्हें मुझे यह सारी योजना समझानी होगी । यदि तुम अपने छात्रों को इतनी दिलचस्पी के साथ व्याकरण पढ़ा सकते हो, तो सभी कक्षाओं में तुम्हारी रीति से व्याकरण क्यों न पढ़ाया जाये ? कल छुट्टी है; मेरे घर आओ और मुझे समझाओ, किन-किन साधनों से तुम ने क्या-क्या किया है ?'

* * *

दूसरे दिन मैं व्याकरण की सारी सामग्री लेकर साहब के घर गया और मैंने उन्हें अपनी योजना आरम्भ से इस प्रकार समझाई—

'साहब ! देखिये, यह मेरा पहला साधन है । इस गत्ते या पुट्ठे पर एक ओर पुल्लिग और दूसरी ओर स्त्रीलिंग के शब्द लिखे हैं । ऊपर 'स्त्रीलिंग' और 'पुल्लिग' भी लिखा है । आप देखेंगे कि इन पुट्ठों पर नियमित स्त्रीलिंग के और उन पर अनियमित स्त्रीलिंग के शब्द हैं । मेरा पहला काम यह है कि मैं ये पुट्ठे छात्रों को पढ़ने के लिए देता हूँ । वे इन्हें पढ़ते हैं—जितने पुट्ठे उन्हें दिये जायँ, उतने सब वे पढ़ डालते हैं । इस प्रकार उन्हें सहज ही लिंगवाचक शब्दों का परिचय हो जाता है । पुट्ठों पर मैंने लिखा है—स्त्रीलिंग' और 'पुल्लिग' । इससे शब्दों के लिंग का कुछ विचार मन में जाग्रत होता है । पर आरम्भ में तो इससे वे केवल लिंगवाचक शब्दों का परिचय ही प्राप्त करते हैं ।

इतना कर लेने के बाद एक दिन मैंने उनसे पूछा—'बोलो भाई, बैल की स्त्री कौन ?'

'उन्होंने कहा—'गाय' ।'सिंह की ?' सिंहिनी ।' 'लड़के की ?' 'लड़की ।' 'बुड्ढ़े को ? 'बुढ़िया' । 'कुत्त की कुतिया ।' 'मोर की ?' 'मोरनी' ।

'मेरी यह योजना खूब सफल हुई । प्रथम परिचय से उनमें विचार जाग्रत हुए थे । अब शब्द-परिचय से उनमें ज्ञान भी जागा ।

'मैंने कहा—'आओ, हम एक खेल खेलें । मैं पुल्लिग लिखूँ, तुम उनके स्त्रीलिंग लिखो' । मैंने पुल्लिग-वाचक शब्द लिखने शुरू किये और वे मेरे साथ खुशी-खुशी स्त्रीलिंग शब्द लिखने

लगे। जांच कर देखा, तो बहुत कम भूलें निकलीं। कुछ ही छात्रों की भूलें थीं।

'मैंने कहा—'देखो, तुम्हें एक दूसरा खेल सिखता हूँ। ये दो पेटियाँ हैं। एक में पुल्लिग के शब्द हैं और दूसरी में स्त्रीलिंग के। पुल्लिग का स्त्रीलिंग ढूँढो और स्त्रीलिंग शब्द के पुल्लिग का पता लगाओ'।

'लड़कों ने यह खेल कई घण्टों तक खेला।'

साहब—'लेकिन पेटी तो एक ही थी। सब एक साथ किस तरह खेले होंगे?'

'मैंने कहा—'जी, इसके लिए तो मुझे एक तरक़ीब सोचनी पड़ी थी। कक्षा में दोनों तरफ मैंने दस-दस वर्तल बनाये थे। एक तरफ़ के दस वर्तुलों में पुल्लिग और दूरी तरफ़ के दस में स्त्रीलिंग शब्द रखे थे। एक-एक वर्तुल के पास एक-एक विद्यार्थी बैठा था। अपने वर्तुल का शब्द लेकर वह उसकी स्त्री या पुरुष को ढूंढने जाता और जो जहाँ से मिलता, पता लगाकर नर और नारी को वहाँ एक साथ रखता। इस प्रकार हर एक वर्तुल के पास स्त्री-पुरुष के जोड़े इकट्ठा हो जाते। सब शब्दों के समाप्त होने पर खेल फिर से शुरू कर दिया जाता। जब खेलने वाले सिर्फ़ दो व्यक्ति होते हैं, तो वे एक-एक पेटी लेकर स्त्री के पुरुष और पुरुष की स्त्री का पता लगाते हैं।'

साहब बोले—'वाह, यह तो बड़ी मजेदार तरक़ीब है! लेकिन नपुंसकलिंग के लिए तुमने क्या किया था?'

'जी, स्त्रीलिंग और पुल्लिग का अच्छा परिचय हो जाने के बाद एक दिन मैंने तख़्ते पर 'नपुंसकलिंग के शब्द' शीर्षक देकर थोड़े शब्द लिखे—होल्डर, टेबल, तख़्ता, डस्टर, दवात आदि।

लड़के उन्हें पढ़ गये और सोचने लगे कि इनका लिंग क्या होगा? जितना वे जानते थे, उसके आधार पर इनके लिंग का निर्णय नहीं कर सकते थे। मैंने कहा—'ये शब्द नपुंसकलिंग के हैं।' और तख़्ते पर 'नपुंसकलिंग' लिखा।'

एक विद्यार्थी—'लेकिन नपुंसक के मानी क्या हैं?'

मैं—'जो न पुरुष है, न स्त्री है, वह नपुंसक है।'

लड़के कुछ समझते-से दिखाई पड़े। मैंने फ़ौरन ही कहा—'लिखो, शब्द लिखो तीन। खाने बना लो—एक स्त्री का, एक पुरुष का और एक नपुंसक का।

मैंने उन्हें साठ शब्द लिखाये और स्वयं मुझे भी यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अधिकांश छात्रों ने बिलकुल सही लिखा था। मैंने सोचा कि परिभाषा वग़ैरा के पचड़े में न पड़कर पहले इस तरह का परिचय कराना ही अच्छा है। खेलों द्वारा पहले यह परिचय कराया जा सकता है और धीरे-धीरे उन्हें इनकी शास्त्रीय परिभाषा भी बताई जा सकती है।

साहब—'लेकिन अगर 'कैसा', 'कैसी' आदि प्रश्न पूछकर समझाते तो कैसा रहता?'

मैं—'जी' वह तो Rule of thumb ही होता—निरी रटाई। छात्रों को बिना समझे याद करना पड़ता। अब उनके मनोविनोद की दृष्टि से उन्हें 'कैसा', कैसी' की रीति भी बताई जा सकती है।'

साहब—'अच्छा तो अब आगे की बात कहो।'

मैं—'इसके बाद मैंने 'वचन' लिये। एकवचन और बहुवचन। और ये भी उसी रीति से सिखाये।'

साहब—'क्या कहते हो? इसके लिए भी खेल ही खेलाते थे?'

मैं—'जो हाँ ! एकवचनवाला बहुवचन को ढूँढकर लाता और उसे उसको जोड़ में रखता ।'

साहब—'यह भी ठीक रहा । तो अब यह बताओ कि तुमने संज्ञा और क्रियापद आदि किस तरह सिखाये ?'

मैंने कहा—'जी, देखिये । पहले तो मैंने क्रियापद लिये । विद्यार्थी पढ़ना तो जानते ही हैं । मैंने उन्हें समझाया कि मैं जैसा तख्ते पर लिखूं, वे वैसी ही क्रिया करें । मैंने उनसे कहा—'मैं क्रिया लिखूँगा, तुम क्रिया करना । मैं जिसकी ओर इशारा करूँ, वही करे ।'

मैंने तख्ते पर लिखा—उठो, बैठो, दौड़ो, सोओ, खेलो, नाचो, पढ़ो, बालो, हिलो, डुलो गिरो, कूदो, डरो, उछलो, हँसो, गाओ, आदि-आदि ।

इन सादी क्रियाओं के करने में लड़कों को बड़ा आनन्द आया । वे कहने लगे—'और लिखिये ।' मैं ऐसे शब्द सोचता और लिखता गया और वे वैसी क्रिया करते गये । दूसरे दिन मैंने एक कार्ड पर लिखा—**कुछ क्रियापद**—उठो, बैठो, दौड़ो, आदि । सब ने पढ़ा—'कुछ क्रियापद' । तीसरे दिन मैं एक डिबिया लाया । उस पर मैंने लिखा—'क्रियापदों की पेटी ।' लड़कों ने पेटी खोली और उसमें से क्रियापद उठाये—नाचो, कूदो, भागो, मारो, गिरो आदि । वे पढ़ते गये और वैसी क्रिया करते गये । फिर मैंने कहा—'देखो, अब तुम कुछ क्रियापद लिख लाओ ।' और वे कुछ क्रियापद लिख लाये ।

मैंने एक दूसरा खेल निकाला । उनसे कहा—'देखो, मैं तुम में से किसी को कुछ करने को कहूँगा । वह क्या करता है, सो तुम मुझे तख्ते पर लिखवाना । मैंने जगजीवन से कहा—दौड़ो । जगजीवन दौड़ा । मैंने पूछा—जगजीवन क्या करता है? एक ने कहा—

दौड़ता है । दूसरे से पूछा—जगजीवन कौनसी क्रिया करता है ? वह बोला—जगजीवन दौड़ता है । फिर मैंने कुछ लड़कों को दौड़ो, कूदो, लिखो, पढ़ो आदि हुक्म दिये और दूसरों से कहा कि वे क्या करते हैं, सो तख्ते पर लिख डालो । मैंने देखा कि उन्होंने सही-सही लिखा था । अलबत्ता कुछ छात्र ऐसे थे, जो समझ नहीं पाये थे, इसलिए वे लिख भी न सके । किसी ने कहीं-कहीं कुछ भूलें भी की थीं ।

मैंने इसी ढंग पर आगे कहा—'अब तुम में से जो जैसी क्रिया करे, तुम उसके लिए वैसा ही लिखो ।'

मैंने जगजीवन से कहा—दौड़ो । वह दौड़ा और लड़कों ने 'दौड़ा' लिखा । इस तरह खेल चलते रहे । मैंने लड़कों को आपस में खेल खेलने और लिखने की स्वतंत्रता दे दी थी । बड़े उत्साह से वे सारा समय खेलते रहे ।

इसके बाद एक दिन मैंने उन्हें बिठाया और पूछा—'जब राम दौड़ता है, तब वह दौड़ने की क्रिया करता है न ?' वे बोले—'जी हाँ ।' 'जब श्यामसुन्दर लिखता है, तब वह कौनसी क्रिया करता है ?' 'लिखने की ।' इस तरह मैंने उनसे पूछना शुरू किया । मैंने उनसे पूछा कि जब श्यामसुन्दर दौड़ता है तब वह कौनसी क्रिया करता है ? और उन्होंने उसका सही जवाब दिया । इसके बाद मैंने तख्ते पर लिखा—'दौड़ते हैं, दौड़ो, बोलते हैं, बोलो, चलो, आदि ये सब क्रियापद हैं; इनमें हमें कुछ काम करना पड़ता है ।'

लड़कों ने इसे पढ़ा और समझा ।

साहब ने पूछा—'फिर तुमने क्या किया ?'

'मैंने कहा—'जी, मैंने छात्रों कहा कि लिख लाओ, जितने क्रियापद तुम्हें याद हों, सब लिख लाओ । लड़के जुट पड़े और

जिसे जहाँ से क्रियावाचक शब्द मिला, उसने वहीं से उसे उठा लिया और लिख दिया ।'

साहब—'फिर ?'

'फिर मैंने एक दूसरा खेल शुरू किया । तख्ते पर कुछ वाक्य लिखे—राम दौड़ता है । चम्पक पढ़ता है, आदि । और उनसे कहा कि इनमें से क्रियापद को तो रहने दो और बाक़ी को मिटा डालो । लड़कों ने यह काम बिलकुल सह-सही किया । बस, यहीं मैंने उस समय क्रियापद के पाठ को रोक दिया ।'

साहब—'मेरे विचार में इस रीति से उन्हें याद तो अवश्य रहता होगा । लेकिन इसमें उनका समय बहुत जाता है और उन्हें अनेक खेल खेलने पड़ते हैं ।'

मैं—'खेल खेलने में हो तो आनन्द आता है । यदि थोड़ा समय बरबाद भी हो जाये, पर परिणाम अच्छा और स्थायी आये, तो हानि ही क्या है ?'

साहब—'तुम सच कहते हो । खैर, अब यह बताओ कि संज्ञा के लिए तुमने क्या किया ?'

मैंने कहा—'जी, संज्ञा का काम भी मैंने इसी प्रकार शुरू किया था । पहले तो अपनी रीति के अनुसार मैंने संज्ञाओं की चिट्ठियाँ बनाईं । संज्ञा, संज्ञा, संज्ञा ! लड़कों ने बहुत-से संज्ञा-शब्द पढ़ डाले । बार-बार पढ़े । संज्ञा की सूची में विविधता भी खूब थी । और ये विविध नाम खास-खास समूहों में बाँट दिये गये थे । इससे इनका वाचन सबके लिए आनन्ददायक हो गया था । मुझे सब बातें इस तरह सिखानी पड़ती हैं कि विद्यार्थियों को पता भी न चले । अब वे क्रियापद और संज्ञा की चिट्ठियों में से संज्ञा को अलग करने में लगे थे । इस प्रकार दो वर्गों को अलग करने का

उनका परिचय दृढ़ हो रहा था । एक बार मैंने उन्हें इकट्ठा करके कहा—'देखो, मैं अब मँगाता हूँ । क्या मँगाता हूँ, मैं कुछ नहीं कहूँगा । बस, जो नाम वाला हो, जिस चीज़ का कोई नाम हो, उसे तुम ले आओ । उठा लाओ । जाकर पूछो—तेरा नाम क्या है ? अगर उसका कोई नाम हो, तो उसे ले आओ ।'

लड़के झट समझ गये । वे दौड़ पड़े । तख्ते से पूछा—'तेरा नाम ?' खुद ही कहा—'तख्ता' 'तो चलो ।' और तख्ता आ गया । इसी तरह मेज़ आई । पत्थर, लकड़ी, धूल, काग़ज़, किताब, पट्टी, क़लम, डिबिया, आदि, जो मिला, इकट्ठा होने लगा । एक लड़का तो पास की कक्षा के एक विद्यार्थी को ही उठाकर ले आया । मैंने पूछा—'यह क्या किया ?' लाने वाले ने कहा—'जी, इसका नाम है न ?' कोई कहने लगा—'जी, सूरज को कैसे लाएं ? दूसरे ने कहा—'जी, नीम नहीं लाया जा सकता ।' मुझे विश्वास हो गया कि ये लोग अब संज्ञा का अर्थ समझने लगे हैं ।

कक्षा में यह खेल चल हो रहा था कि इसी बीच मैं संज्ञा की करतनों की पेटी ले लाया । ऊपर लिखा था—नामों की पेटी । अन्दर पांच सौ नाम थे । नाम ही नाम ! लड़कों को अब आदत पड़ गई थी । पेटी खोलकर वे मुट्ठी-मुट्ठी नाम उठा ले गये और पढ़ डाले । मैंने पेटी में सब तरह के नाम रखे थे । एक ने पूछा—'यह 'लालिमा' किस चीज़ का नाम है ?' मैंने पूछा—'तो यह लालपन जो दिखाई पड़ता है, इसे तुम क्या कहोगे ?' लड़का हँसकर लौट गया । इसके बाद मैंने संज्ञा और क्रियापदों की पेटियों को मिला दिया और फिर संज्ञाओं और क्रियापदों को छाँटने का काम उन्हें बताया । खूब रंग जमा । उस समय तक वे संज्ञा और क्रियापद का अपने मन में ठँसा हुआ भाव भली भाँति व्यक्त कर सकते थे । इसके बाद मैंने एक दूसरा खेल बताया—

क्रियापद के योग्य संज्ञा ढूंढ़ने का और संज्ञा के योग्य क्रियापद ढूंढ़ने का । उदाहरणार्थ, 'घोड़ा' शब्द लेकर हम 'दौड़ता है' या 'दौड़ा' क्रियापद ढूंढ़ सकते हैं और 'खाता हैं' शब्द लेकर रामचन्द्र या पूनमचन्द की तलाश में निकल सकते हैं । मैंने उन्हें यह सब समझा दिया और ढूंढे हुए शब्दों को जोड़कर रखना भी सिखा दिया । छात्रों को इसमें खूब मज़ा आया ।

इसके बाद मैंने तख़्तों पर कुछ वाक्य लिखे और छात्रों से कहा—'इनमें से संज्ञाओं और क्रियापदों को चुनो और पट्टी पर लिखो । इन वाक्यों में संज्ञायें दिखाओ । इनमें से संज्ञाओं को मिटा डालो और इनमें से क्रियापदों को मिटा डालो ।'

मैंने फिर पूछा—'यह क्या है ? इसे क्या कहते हैं ?' और उन्होंने सब सही-सही बता दिया ।

इस प्रकार उन्हें संज्ञा और क्रियापदों का पदच्छेद करना आ गया ।

साहब ने कहा—'बड़ी ही अच्छी रीति है, यह ! सचमुच इस तरीके से तो एक क्षण के लिए भी छात्रों को मेहनत न पड़ी होगी । हाँ, इसमें साधनों का थोड़ा खर्च ज़रूर होता है और तुम्हारी तरह हृदय की सूझ भी आवश्यक है ।'

मैंने कहा—'साहब, लड़कों को रटाई के त्रास से बचाने के लिए इतना ख़र्च भी पड़ा, तो कोई बड़ी बात नहीं । यह सब तो मैंने अपने निज के ख़र्चे से किया है । पुराने पुट्ठे ढूंढ़कर पेटियाँ बनाई हैं और घर में इधर-उधर पड़े हुए काग़ज़ लेकर उनकी चिट्ठियाँ तैयार कर ली हैं ।'

साहब—'मैं कोशिश करूंगा कि तुम्हें यह रक़म मिल जाये ।'

मैंने कहा—'जी, रकम वापस दिलाने के बदले यदि आप इस रीति को स्वीकार करा लें और प्रचलित करा दें, तो मेरा ख़र्च वसूल हो चुकेगा ।'

साहब—'अच्छा है, देखूंगा । पर यह तो कहो कि इसके बाद तुमने क्या किया ?'

मैं—'जी, इसके बाद मैंने विशेषण शुरू किये । लेकिन मेरी बातों से आप उकताते तो नहीं हैं न ? एक तो व्याकरण-जैसा रूखा विषय, और तिस पर घुमा-फिराकर बात करने की मेरी आदत !'

साहब—'नहीं, तुम कहते चलो । मैं सारी रीति को विस्तार से जानना चाहता हूँ । बग़ैर विस्तार से समझे सारा विषय समझ में आ भी तो नहीं सकता न ? अच्छा, जरा ठहरो । चाय आ गई है, इसे पीकर आगे बढ़ेंगे ।'

वैसे तो साहब बड़े शौक़ीन जीव थे । ऊँचे प्रकार की चाय पीते थे । मेरे शौक़ को भी जानते थे । हमारे पूरे बीस मिनट चाय पीने में बीत गये । फिर तो हम जरा जोश में आये और बात आगे चली ।

मैंने कहा—'जी, अपने रिवाज के अनुसार मैंने पहले लड़कों के सामने विशेषणों की चिट्ठियाँ रक्खीं । वे चिट्ठियाँ पढ़ने लगे । इतने में एक ने पूछा—'जी, ये विशेषण क्या चीज़ हैं ?'

मैंने कहा—'देखो न, ये सब विशेषण ही तो हैं, बस विशेषण ! वे मन ही मन मेरी बात का कुछ मतलब समझ रहे थे । बाद में फिर खेल शुरू हुए । वे विशेषण, संज्ञा और क्रियापद की चिट्ठियाँ पढ़ने और अलग करने में जुट गये ।

इसके बाद मैंने उन्हें एक नया खेल सुझाया— देखो भाइयो, मैं जो मँगाऊँ, सो तुम लाओ ।'

मैंने कहा—'पेन्सिल लाओ ।'

एक लड़का पेन्सिल लाया ।

'लाल पेन्सिल लाओ ।'

वह लाल पेन्सिल लाया ।

'पीली पेन्सिल लाओ ।'

पीली लाया ।

'पेन्सिल रख जाओ ।'

लड़के ने पूछा—'कौनसी ?'

मैंने कहा—'लाल ।'

फिर कहा—'पीली लाओ । भूरी लाओ । गुलाबी लाओ । लम्बी लाओ । छोटी लाओ ।' और वे वैसी पेन्सिलें लाते गये ।

मैंने नया पाठ शुरू किया—'कोई एक पेन्सिल उठाओ ।'

एक पेन्सिल उठाई गई ।

'अब वह हरी पेन्सिल उठाओ ।'

हरी उठाई ।

'अब वह पीली उठाओ ।'

पीली उठाई ।

'अब लम्बी उठाओ ।'

लम्बी उठाई ।

मैंने पूछा—'तुमने खास कौनसी पेन्सिल उठाई है ?'

'यह हरी पेन्सिल उठाई है ।'

'खास कौनसी ली है ?'

'पीली ली है ।'

'ख़ास कौनसी ली है ?'

'लम्बी ली है ।'

मैंने तख्ते पर लिखा—'ये खास शब्द हैं । ये विशेषण हैं, जो किसी खास चीज़ के सूचक हैं; उस चीज़ की विशेषता और अधिकता को बताते हैं ।'

विद्यार्थियों ने पढ़ा और पढ़कर सोचा ।

मैंने नामों की और विशेषणों की पेटियाँ निकाल कर उन्हें एक खेल और बताया—'संज्ञा का विशेषण ढूंढ़ो और विशेषण की संज्ञा ढूंढो ।'

एक लड़के ने 'लाल' शब्द लिया और नाम की पेटी में से घोड़ा शब्द निकाला और 'लाल घोड़ा' जोड़ कर रखा । विशेषण और नाम की ढेरियों में से इस प्रकार शब्दों के जोड़े बनने लगे । मैं उनके काम को देखने और कक्षा में घूमने लगा । मैंने देखा कि उनका कोई-कोई जोड़ा ग़लत भी हो जाता था ।

फिर तो मैंने अपनी भिन्न-भिन्न रीतियों से विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर देखा । वे विशेषण का अर्थ मन में समझ चुके थे, इसलिए तत्काल सही-सही संज्ञा और विशेषण ढूंढ़ निकालते थे ।

साहब ने कहा—'भई, तुमने तो अनेक नये खेल खड़े कर दिये हैं । नामों, विशेषणों और क्रियापदों का छात्रों को सुन्दर रीति से परिचय भी करा दिया है । अच्छा, तो अब उन्हें इनकी परिभाषा भी सिखाओगे या नहीं ?'

मैंने कहा—'जी, परिभाषा तो सिखा ही चुका हूं न ? रही व्याकरण में दी गई परिभाषायें, सो वे तो मैं इन्हें नहीं सिखाऊँगा ।

आपको परीक्षा में उन्हें पूछना भी न चाहिए । हाँ, आप पदच्छेद पूछ सकते हैं ।'

साहब कहा—'मैं इस विषय की परीक्षा ही न लूँगा । मुझे तो तुम्हारी यह रीति अपनी पाठशाला-भर में चलानी है । बेचारे लड़के व्याकरण रट-रट कर मरे जाते हैं ।'

मैंने कहा—'जी, व्याकरण सीखते-सीखते तो मेरी नाकों दम आ गया था और पिटाई भी खूब होती थी । जब हम से व्याकरण के प्रश्नों का उत्तर देते न बनता, तो हमारे शिक्षक हमें बुरी तरह पीटा करते थे !'

साहब बोले—'आजकल भी तो लोग इसी तरह पीटते हैं ?'

मैंने कहा—'जी, आप इस प्रथा को बन्द क्यों नहीं करवा देते ?'

साहब बोले—'भई, यह तो मेरे हाथ की बात नहीं है । वैसे, कुछ हद तक है भी सही । पर अभी मेरा मत ......। हाँ, लेकिन हम अच्छी तरह पढ़ाएं तो यह मारना, पीटना अपने-आप ही बन्द हो जाये । तुम्हीं देखो, व्याकरण सिखाते हुए तुम्हें किस-किस को सज़ा देनी पड़ी ? अच्छा, तो अब यह बताओ कि सर्वनामों का तुमने क्या किया ?'

मैंने कहा—'जी, और करना ही क्या था ? छात्रों को एक छोटा-सा खेल सिखा दिया । मैंने उन्हें समझाया—'मैं अर्थात् कौन ?' वे बोले—'लक्ष्मीशंकरजी' । 'तो तुम अर्थात् कौन ?' श्यामसुन्दर ने कहा—'अर्थात्. मैं—श्यामसुन्दर ।' मैंने पूछा—'वह कौन है ?'—'रामचन्द्र ।'

ऊपर के सवाल पूछ लेने के बाद मैंने तख़्ते पर लिखा—

मैं—लक्ष्मीशंकर ।

तुम—भीमाशंकर ।

वह—धनंजय ।

हम—लक्ष्मीशंकर, भीमाशंकर, श्यामसुन्दर, धनंजय ।

तुम—रेवाराम. लक्ष्मणसिंह, टीकमसिंह, देवीप्रसाद ।

वे—उस तीसरी कक्षा वाले—मोहनसिंह, मूलचंद, लखमीचंद, रूपसिंह ।

लड़कों ने पढ़ा । मैंने कहा—'ये मैं, तू, वह, सर्वनाम कहलाते हैं ।' एक ने पूछा—जी, सर्वनाम क्या चीज़ है ?'

मैंने कहा—'तुम्हीं सोचो न ?'

दूसरे ने कहा—'साहब, मेरा अर्थात् लक्ष्मणसिंह का, यही मतलब है न ? और लक्ष्मीशंकरजी का अर्थात् आपका, यही न ?'

तीसरा बोला—तेरा, मेरा, तुम्हारा, उनका, ये सभी सर्वनाम हैं या नहीं ?'

मैंने कहा—'हाँ, ये सर्वनाम ही हैं ।'

चौथे लड़के ने पूछा—'लेकिन सर्वनाम का मतलब क्या ?'

मैंने तख़्ते पर लिखा—

राम के हाथ में पट्टी है ।

राम के हाथ में क़लम है ।

राम ब्राह्मण है ।

राम पढ़ता है ।

राम रोज़ जल्दी आता है ।

लक्ष्मीशंकर तुम्हारे शिक्षक हैं ।

लक्ष्मीशंकर तुम्हें पढ़ाते हैं ।

लक्ष्मीशंकर तुम्हें हवाखोरी को ले जाते हैं।

सबने इसे पढ़ा। फिर मैंने दूसरे वाक्य से 'राम' निकाल कर 'उसके' लिख दिया। 'लक्ष्मीशंकर' निकालकर 'मैं' लिखा और क्रियापद में थोड़ा हेरफेर कर दिया। लड़कों ने पढ़ा और वे मतलब समझ गये।

मैंने पूछा—'बताओ, सर्वनाम किस की जगह लिखना चाहिए ?' किसी ने कहा, राम की जगह; किसी ने कहा, लक्ष्मीशंकर की जगह।

मैंने पूछा—'राम और लक्ष्मीशंकर ये नाम हैं या क्रियापद हैं ?'

'नाम हैं।'

'तो, राम और लक्ष्मीशंकर इन नामों के बदले जो शब्द आते हैं, उन्हें क्या कहेंगे ?'

सर्वनाम !'

साहब हँस दिये। बोले—'भई, तुम शिक्षक तो पक्के मालूम होते हो! बड़े विस्तार से और बराबर लगकर हर बात का तुम वर्णन करते हो।'

मैंने कहा—'जी, अब यह आदत कैसे दूर हो सकती है? वकील तो हूँ नहीं, जो थोड़े में समेट लूँ।'

मैंने देखा, साहब अब थक चुके थे। मेरी बातों में उन्हें मजा तो खूब आ रहा था, फिर भी मैं चुप हो गया। मैंने इजाजत चाही और उन्होंने दे दी। साहब ने कहा—'तुम्हारी कक्षा की परीक्षा में से व्याकरण के विषय को मुक्त किया जाता है। लेकिन अभी काल और विभक्तियाँ तो बाकी ही हैं। जब ये हो

जायँ, तब एक बार और आकर सारी बातें सुना जाना। मैं अगले साल इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ किया चाहता हूँ।'

मैं भी थका-माँदा घर आया और सो रहा।

: ३ :

छ:माही परीक्षा के दिन आये। साहब स्वयं ही परीक्षा लेने वाले थे। वे परीक्षा के शौक़ीन भी थे।

मैंने अपनी कक्षा की तैयारी कर रक्खी थी, पर अपने निज के ढंग से। मैंने उनसे आज्ञा माँग ली थी कि सारी पाठशाला की परीक्षा हो चुकने पर ही मेरी कक्षा की परीक्षा ली जाये। मेरी कक्षा की परीक्षा के समय सभी शिक्षक और प्रधानाध्यापक भी उपस्थित रहें। मैंने यह भी चाहा था कि मेरी कक्षा की परीक्षा के समय हर कक्षा के पाँच-पाँच विद्यार्थी भी वहाँ मौजूद रहें।

परीक्षा के दिन मेरे मन में शान्ति थी। मेरा कलेजा धड़कता न था! मन में पास-नापास की दुविधा न थी। मेरे अनुभव के अनुसार तो चिन्ता का कोई कारण ही न था। विद्यार्थियों से कह ही रक्खा था कि हम प्रतिदिन जो कुछ करते हैं, वही आज भी कहना है। परीक्षा में तो सब पास हो हैं। आज तो हमारा काम देखने के लिए सब लगों को बुलाया-भर है।

अपनी नाटकीय रीति के अनुसार मैंने सारी व्यवस्था परदे की ओट में हो की थी। अगले भाग में सबको बिठाने के बाद मैंने परदा उठाया।

मंच पर दूसरी कक्षाओं के लड़कों की कुछ टुकड़ियाँ बिठाई गई थीं। हर एक टुकड़ो को मेरी कक्षा का विद्यार्थी कहानी सुना रहा था। कहानी कहने का काम बारी-बारी से चला। हर एक

विद्यार्थी ने अपनी कहानी आप ही पसन्द की थी। भूल जाने पर देख लेने के लिए किताब पास में रक्खी थी। वह अपने ढंग से अपनी कहानी विद्यार्थियों को सुनाता था और सुनने वालों के साथ वह भी कहानी का आनन्द लूट रहा था। निश्चय ही वह कहानी कहना जानता था। छटा से, भाव से और अर्थ समझकर वह अपनी कहानी कह रहा रहा था। कहानियाँ पूरी हुईं। सब शिक्षक एक-दूसरे के सामने देखने लगे। मैंने कहा—'यह है, मेरी एक परीक्षा।'

एक शिक्षा ने दूसरे शिक्षक के कान में कहा—'किस बात की ?'

मैंने सुना और कहा—'भाषा पर काबू की, वार्त्ता-कथन की, रुचि की, स्मृति-विकास की और अभिनय की'।

सब शिक्षक दूसरी परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगे।

फिर परदा उठा। सब छात्र गोलाकार बैठे थे। सामने तख्ते पर लिखा था—अन्त्याक्षरी का खेल।

एक ने कविता पढ़ी। दूसरे ने उसके अन्तिम अक्षर से शुरू होने वाली दूसरी कविता पढ़ी। इस प्रकार सारा वर्तुल पूरा हो गया। फिर वही अन्त्याक्षरी शुरू हुई।

सहब ने पूछा—'इन्हें आमने-सामने क्यों नहीं बैठाया ? इसमें दलों की आवश्यकता है न ?'

मैंने पूछा—'जी, नहीं। मैंने इस प्रथा को छोड़ दिया है। इससे हार-जीत का भाव पैदा होता है। हार-जीत से स्पर्धा और स्पर्धा से ईर्ष्या पैदा होती है। जब कि इस रीति में एक छात्र को याद न होने पर उसके बाद वाला पढ़ना शुरू कर देता है और काम आगे बढ़ता है। एक बार कभी याद न भी रहा, तो दूसरी बार उसे याद हो आता है।'

साहब ने अपनी दाढ़ी खुजलाई और आँखें मिट मिटमिटाईं।

लड़कों को मैंने बैठाया तो था कुछ देर खेलने लिए, लेकिन उन्हें तो इतना मज़ा आ गया कि घंटी बजने पर भी उठाने का मन नहीं होता था। मैंने उन्हें कुछ मिनट और दिये परदा गिराया।

परदे के बाहर आकर मैंने कहा—'सज्जनो! आपने देखा होगा कि इन छात्रों को पाठ्यपुस्तक की कितनी काव्य पंक्तियाँ भली-भाँति याद हैं। कविता के वर्ग में मैं इन्हें प्रतिदिन यही खेल खेलाता हूँ।'

साहब ने कहा—'Hear hear : सुनिये! सुनिये!'

फिर परदा उठा, गोलाकार में बैठे सब छात्र पहेलियाँ बूझ-बुझा रहे थे। उनम खूब उत्साह था!

साहब ने कहा—'ओहो! ये तो पहेलियाँ हैं! मैंने बचपन में सुनी थीं; लेकिन पाठ्यक्रम में ये कहाँ हैं ?'

मैंने कहा—'जी पाठ्यक्रम में भाषा-शिक्षण तो है न ? और पाठ्यक्रम के मूल में छात्रों की जिज्ञासा की, उनके विकास की और ज्ञान की वृद्धि का आशय तो रहा ही है। मेरे सभी छात्र इस खेल पर मुग्ध हैं—पागल हैं। बहुत-सी पहेलियाँ इन्हें याद हैं! और, हर पहेली का अपना कितना महत्त्व है? इस समय ये पाठ्यक्रम में नहीं हैं। फिर भी मैंने तो इन्हें स्थान दिया है। आशा है, अगले साल आप भी इन्हें पाठ्यक्रम में स्थान दीजियेगा।'

इसके बाद हमने शब्दों का खेल शुरू किया। एक शब्द बोलने पर उसके अन्तिम अक्षर से शुरू होने वाला दूसरा शब्द बोला जाता और उसके अन्तिम अक्षर से तीसरा। यह खेल वैसे तो आसान था; लेकिन जब यह मालूम हुआ कि किसी एक विद्यार्थी ने गाँवों के,

किसी ने नदियों के, किसी ने पहाड़ों के, किसी ने मुसलमानों के, किसी ने हिन्दुओं के, किसी ने जातियों के, किसी ने ब्राह्मणों के, और किसी ने बनियों के, ऐसे ही नाम अपने-अपने लिए बोलने को चुन रक्खे हैं, तब तो सबको यह खेल और भी अनूठा प्रतीत हुआ।

मैंने अपने शिक्षक भाइयों से कहा–'इस खेल के निमित्त अधिक-से-अधिक शब्द इकट्ठा करने के लिए मैं अपने विद्यार्थियों से कहता हूँ कि तुम नकशों और शब्द कोश-जैसी पुस्तकों पर नजर डालते रहा करो। इससे बहुतेरे शब्द तुम्हारी ज़बान पर खेला करेंगे। अब बहुधा छात्र खेल खेलने के बदले तरह-तरह के शब्द—भिन्न-भिन्न वर्ग के शब्द—इकट्ठा करने में ही अपना बहुत-सा समय बिता देते हैं। वे एक-दूसरे को शब्दों की याद भी करा देते हैं और कोई-कोई तो शब्द लिख तक लेते हैं।

साहब बोले—'भई, इस खेल की तरह में तो एक महान् तत्त्व मालूम पड़ता है। इस प्रकार के सब खेल बुद्धि-शक्ति और साधारण ज्ञान की वृद्धि के विचार से सब कक्षाओं में अवश्य शुरू किये जाने चाहिये।'

मेरी ओर विशेष दृष्टि से देखकर उन्होंने कहा—'तुम भी ठीक नई-नई बातें खोज निकालते हो।

एक शिक्षक ने दूसरे शिक्षक से इस तरह कहा कि साहब सुन न सकें—'इसी के लिए तो लक्ष्मीशंकर यहाँ आया है। उसे पढ़ाना थोड़े ही है? वह तो मौज मनाता है, मौज! हमारा तो पढ़ाते-पढ़ाते सिर पक जाता है। इधर उसके कार्यक्रम में तो सिवाय खेल के और कुछ है ही नहीं!'

दूसरे शिक्षक ने कहा—'भैया, अब पुरानी पढ़ाई के बाद इस नई पढ़ाई का ज़माना आया है अब वे दिन तो गये कि कड़ाकड़

पाठ बोलना और ग्रन्थ गाँठे और विद्या पाठे। अब तो पढ़ने के बदले यह खेल-कूद रह गया है और आगे चलकर न जाने क्या-क्या होगा? अब किसी का मन पढ़ने में तो है ही नहीं। खेल खेलाएं तो सबको भले मालूम हों।'

मेरा ध्यान अपने विद्यार्थियों का काम दिखाने में था। इस कारण मैं उनकी यह बातचीत सुन ही नहीं सका। बाद में किसी ने मुझे यह बात कही थी। अस्तु।

मैंने सीटी बजाई और सब लड़के हाथ में झाड़ू लेकर कतार बाँधे खड़े हो गये। मैंने झाड़ू के साथ उनसे कसरत करवाई; फिर उन्हें चारों ओर बुहार डालने का हुक्म दिया। वे सारी पाठशाला में फैल गये। जहाँ कचरा देखा, वहीं उन्होंने झाड़ू लगाया और जो कचरा इकट्ठा हुआ, उसे एक टोकनी में भरकर हमारे सामने हाज़िर किया।

अधिकारी महोदय और शिक्षकगण अचम्भे में आकर यह सब देख रहे थे। मेरी कक्षा के विद्यार्थियों की यह भी एक परीक्षा थी।

साहब ने पूछा—'झाड़ू के साथ कवायद क्यों करवाई? कुछ समझ में नहीं आया।'

मैंने कहा—'जी, आज कल हमारे देश में गंदगी का बोल-बाला है। गन्दगी हमारा एक राष्ट्रीय कलंक है। जब तक इसका साम्राज्य है, हमारी दुर्दशा का अन्त नहीं होगा। इसीलिए इसके खिलाफ़ मैंने पहला मोर्चा लिया है। हमें अपनी गन्दगी दूर करने के लिए नियमानुसार लड़ाई छेड़नी पड़ेगी। झाड़ू की यह क़वायद तो मात्र संकेत-रूप है। इन लड़कों का पहला सबक़ यह झाड़ू-क़वायद ही है। जब तक हमारा कमरा भली भाँति साफ़ नहीं होता, हम कक्षा में दूसरा काम नहीं करते। अब तो इन लड़कों को भी ग़न्दगी नहीं सुहाती।'

बात चल ही रही थी कि इतने में लड़के हाथ, पैर, मुंह आदि धोकर आये और मैंने दूसरी सीटी बजाई।

साहब—'तुम्हारा यह प्रयोग तो कुछ अजब ही है। चौथी कक्षा को पढ़ाई का प्रयोग करते-करते ऐसी और क्या-क्या बातें की हैं तुमने ?'

मैंने कहा—'जी, मेरे प्रयोग में इन सब बातों को अवकाश है। चौथे दरजे की पढ़ाई पढ़ाने से पहले मुझे इन्हें पहले दरजे की पढ़ाई पढ़ानी चाहिए न ?'

लड़के दौड़कर बाहर चले गये थे और पाठशाला के आस-पास के पेड़ों पर चढ़ गये थे। मैंने दूसरी सीटी बजाई और वे कूद-कूद-कर नीचे आये। तीसरी सीटी ऊपर वे फिर पर चढ़े और चौथी पर उतर आये।

प्रधानाध्यापक—'भई, यह पढ़ाई भी अजीब ही है! यह तो बग़ैर पढ़ाये भी आ जाता है। इसमें पढ़ाई क्या है ?'

मैंने कहा—'जी, आजकल बग़ैर सिखाये ये बातें भी नहीं आतीं और हम ऐसी बातें छात्रों को सीखने भी नहीं देते ?'

प्रधानाध्यापक—'नहीं, यह सच नहीं है।'

मैंने कहा— 'तो अपनी पाठशाला के ये दूसरे लड़के खड़े हैं। पूछ लीजिये, इनमें से कितने इस प्रकार चढ़ और कूद सकते हैं ?'

बस, साहब ने उन सब लड़कों को चढ़ाने का हुक्म दिया, लेकिन मुश्किल से दो-तीन ही चढ़ सके।

मैंने कहा—'साहब, इन लोगों को इस प्रकार की बहुत-कुछ तालीम मैंने दी है। ये तमाम बातें मेरी शिक्षा और मेरे प्रयोग के विषय हैं।' फिर ज़रा हँसकर मैं बोला—'साहब, परीक्षा-पत्र में इन खेलों के नाम हैं। इनके नम्बर आपको देने होंगे।'

साहब ने विनोद ही में उत्तर दिया—'अच्छा, अच्छा! तुम भी मुझ से नम्बर माँगोगे ?'

मैंने तीसरी सीटी बजाई और लड़के पाठशाला की आलमारी में से लट्टू और डोरियाँ ले आये और अपने-अपने लट्टू घुमाने लगे। गली के बिगड़ैल लड़कों की तरह नहीं—बिना शोरगुल और रार-तकरार किये वे खेल रहे थे। वे एकाग्र थे और किसी प्रकार की भगदड़ या दोष उनसे न होता था। खेलने के लिए निश्चित स्थान था और उन सबका एक मुखिया था। हम सब बचपन में लट्टू खेले थे; इसलिए हम में से हर एक को इस खेल में आनन्द आ रहा था।

साहब ने कहा—'भई, उन्हें लट्टू खेलना तुमने कब सिखाया ? ये तो बड़ी व्यवस्था और नियम के साथ खेल रहे हैं!'

मैंने कहा—'साहब, हमारी सीखने-सिखाने की जगह तो नदी का किनारा है। जब हवाखोरी को जाते हैं, तो वहाँ ऐसे-ऐसे अनेक काम किया करते हैं। हमें खेल-खेल में न-जाने क्या-क्या आ जाता है।'

साहब ने अंग्रेज़ी में कहा—'तुम सच कहते हो, अभी-अभी मैंने पढ़ा है कि बालक खेल द्वारा बहुत-कुछ सीख लेते हैं। (प्रधानाध्यापक की ओर देखकर) अब अपनी पाठशाला में आप यह सब शुरू कीजियेगा न ?'

प्रधानाध्यापक बोले—'लेकिन साहब, यदि हम यह सब करने लगें, तो पाठ्यक्रम किस तरह पूरा होगा ? इन भाई के सिर ज़िम्मेदारी ही क्या है ? एक साल तक जैसा पढ़ा सकेंगे, पढ़ायेंगे और नहीं तो कह देंगे कि यह तो प्रयोग था—जितना हुआ, किया; बाक़ी न हो सका, न किया; लड़के न कर सके। और

आप भी कहेंगे कि प्रयोग में तो जितना सिद्ध हो जाये, वही गनीमत है। हम तो पाठ्यक्रम की इस जंज़ीर से बँधे हुए हैं। आप ही तो ऊपर से लिख भेजते हैं कि काम पूरा क्यों नहीं हुआ? परिणाम ठीक क्यों नहीं आया? पाठ्यक्रम पूरा क्यों नहीं किया गया?'

साहब तनिक हँसे। मन में कुछ खीझे भी। लेकिन खामोश रह गये।

मैंने सीटी बजाई और लड़कों ने अपने कुर्ते निकाल डाले। वे कतार बाँधे खड़े हो गये। सब तनकर खड़े थे। ठीक और व्यवस्थित खड़े थे। सब साफ़-सुथरे थे। ब्राह्मण की जनेऊ मैली न थी। हाथ, मुँह, बाल, सब बराबर साफ़ और सुथरे थे। किसी की आँखों में कीच नहीं थी। टोपियां धुली हुई थीं।

साहब ने जरा हँसकर कहा—'यह कितने दिनों की तैयारी है? सफ़ाई आदि की यह तैयारी कराने में ख़ूब मेहनत करनी पड़ी होगी?'

मैंने कहा—'साहब छः महीनों से तैयारी चल रही है। छः महीनों से मेहनत कर रहा हूँ। आप से कौन बात छिपी है?'

मैंने दूसरी सीटी बजाई। लड़के कपड़े पहनकर खुश होते हुए कतार में खड़े हो गये और नमस्कार करके चले गये।

प्रधानाध्यापक ने ज़रा कटाक्षपूर्वक कहा—'क्या परीक्षा खतम हो गई?'

मैंने कहा—'जी, अभी देर है। आप सब उस कमरे में पधारिये।'

प्रधानाध्यापक—'हाँ, हाँ! आपने कुछ दिन हुए वह कमरा हम से किसी उपयोग के लिए माँग लिया था। आप हम में से किसी को अन्दर नहीं जाने देते थे। कुछ इकट्ठा करा रहे थे न?'

मैंने कहा—'आप पधारिये तो!'

हम सब कमरे में आये।

साहब—'ओहो! यह तो एक संग्रहालय ही है!'

प्रधानाध्यापक—'मैं भी यही सोचता था। लड़के चीज़ें लाने और रखने में बड़े मशगूल रहा करते थे।'

मैंने कहा—'जी, लड़कों ने बड़े उत्साह से यह काम किया है। मैंने उन्हें कह रखा था कि तुम्हें जिस तरह सजाना हो, उसी तरह सजाना। मैं तुम्हें थोड़ी भी सलाह न दूँगा।'

साहब—'क्या यह सारी सजावट और रचना विद्यार्थियों ने की है?'

मैंने कहा—'जी हाँ!'

साहब—'लेकिन यह कैसे संभव है? सजावट तो बहुत ही कलापूर्ण है!'

मैं चुप रहा। मेरे काम का परिणाम अब तो स्पष्ट ही अपना जौहर दिखा रहा था।

साहब ने कहा—'ये तमाम चीज़ें कैसे और कहाँ से इकट्ठा कीं? छात्रों को प्रकृति का परिचय कराने के लिए ये सब बहुत ही उपयोगी हैं।'

प्रधानाध्यापक बोले—'साहब, ये प्रायः लड़कों को यात्रा के लिए ले जाते हैं। वहीं से यह सब लाये होंगे!'

साहब ने कहा—'यह तो बड़ा ज़बरदस्त काम बन गया! अब इस संग्रह को तोड़ियेगा मत। सारी पाठशाला के लिए यह हमें उपयोगी होगा। हम शिक्षकों से कहेंगे कि वे इस संग्रह को बढ़ाकर और भी बड़ा बनायें।

प्रधानाध्यापक मन में गुनगुनाये—'और फिर पढ़ायेंगे कब ?'

लड़कों ने संग्रहालय की एक सूची तैयार की थी। साहब उसे पढ़कर बहुत खुश हुए। कहने लगे—'ये लड़के तो इनाम के लायक हैं।'

मैंने कहा—'जी, इस संग्रह को तैयार करने का आनन्द ही इनका इनाम था। यह सारा संग्रहालय ही इनका इनाम है।'

साहब—'तो भी············।'

मैं कुछ न बोला।

कमरे के एक कोने में मिट्टी के कुछ खिलौने रक्खे थे।

साहब—'ये किसने बनाये हैं ?'

मैंने कहा—'जी, लड़कों ने ! इस कमरे में यहाँ से वहाँ तक मेरा कुछ भी नहीं है।'

साहब—'लेकिन इन्होंने इतने सारे खिलौने किस दिन बनाये और कहाँ पकाये होंगे ?'

मैं—'जी, ये नदी-किनारे हर हफ्ते बनाया करते थे और वहीं आवाँ बनाकर इन्होंने पका भी लिये।'

साहब—'वाह ! भई, तुम्हारा दिमाग़ कुछ अजब ही जान पड़ता है। तुम्हारे ये प्रयोग अद्‌भुत हैं। जब तुम्हें कुछ भी साधन नहीं मिलते, तो नदी-किनारे दौड़ जाते हो। खेत की मिट्टी का गारा बनाते हो, और शाबाश······अब मुझे······।'

मैंने उन्हें आगे बोलने का मौक़ा ही नहीं दिया। मैं बीच ही में बोल उठा—'अब आप इस कमरे में आराम से कुछ देर बैठिये। मैं इनका कुछ दूसरा काम भी आपको दिखाऊँगा।' सब यथास्थान बैठ गये।

प्रधानाध्यापक ने कुछ सोचते-सोचते कहा—'साहब, यह सब हम भी तो कर सकते हैं, लेकिन फिर छात्रों को पढ़ायें कब ?'

इतने में मैं गत्ते के कुछ टुकड़े ले आया। एक गत्ते पर लड़कों के उस समय के अक्षरों के नमूने थे, जब मैंने पढ़ाई शुरू की थी। दूसरे पर कल के ताज़ा अक्षरों के नमूने थे। गत्ते पर लिखा था—'अक्षर-प्रगति-सूचक-पत्रिका।'

सब को अक्षरों की यह प्रगति अच्छी मालूम हुई।

पर एक शिक्षक ने दूसरे के क़ान में कहा—'अरे, ये तो खास-ख़ास लड़कों से धीमे-धीमे जमजाकर लिखवाये होंगे।'

मुझे उन शिक्षक का यह मन्द विचार खटका; पर मैंने इसकी परवाह न की। मुझे तो उनका यह विचार बहुत ही तुच्छ मालूम हुआ।

साहब—'भई, तुमने यह परिवर्तन और यह सुधार किस प्रकार किया ?'

मैं—'जी, भिन्न-भिन्न उपायों से।

साहब—'तुम्हारे उन उपायों को पाठशाला में दाखिल किया जाय तो कैसा रहे ?'

मैं—'हो सकते हैं, ज़रूर हो सकते हैं। मैं आपको दिखा सकूँगा।'

फिर मैं एक दूसरी पुस्तक लाया। उसमें पिछले छः महीनों में विद्यार्थियों ने कुल जितनी पुस्तकें पढ़ी थीं, उनकी सूची थी। पुस्तक के हर एक पन्ने पर विद्यार्थी का नाम था। विद्यार्थी ने स्वयं पुस्तक पढ़ने के बाद पुस्तक का नाम अपने हाथों उसमें लिख दिया था।

इस पर से मैंने अन्तिम पृष्ठ पर कुछ आँकड़े तैयार किये थे। कितने विद्यार्थियों ने कुल कितनी पुस्तकें पढ़ीं; औसतन फी विद्यार्थी कितनी पढ़ी गईं; सबसे अधिक पुस्तकें किसने पढ़ीं और सबसे कम किसने, आदि। किताबों की दृष्टि से भी यह नोट किया था कि कौन-सी किताब अधिक पढ़ी गई और कौनसी कम। पढ़ी हुई किताबों का वर्गीकरण करके बताया था कि कक्षा के छात्रों ने किस विषय की पुस्तकें अधिक दिलचस्पी के साथ पढ़ी थीं।

साहब ने वह सूची देखी और उन्हें आश्चर्य हुआ—'इतनी पुस्तकें पढ़ी गईं! और इतने-इतने विषयों की! ये कब पढ़ी होंगी?'

'जी हाँ! इतनी पुस्तकें पढ़ी गई हैं और सो भी मेरी आँखों के सामने?'

साहब ने पूछा—'प्रधानाध्यापकजी! आपकी सातवीं कक्षा के विद्यार्थियों ने इन छः महीनों में कितनी पुस्तकें पढ़ी होंगी?'

प्रधानाध्यापकजी—'साहब पढ़ें कैसे? वे दूसरी पुस्तकें पढ़ने बैठें, तो इतिहास, भूगोल, रेखागणित आदि का क्या हो? ये सब कब याद किये जायँ?'

साहब बोले नहीं, लेकिन कुछ सोच ज़रूर रहे थे। मेरी ओर देखकर कहने लगे—'तुम्हारे छात्र भाषा में बग़ैर परीक्षा ही पास किये जाते हैं। कहो, अब और क्या बाक़ी है?'

मैंने विद्यार्थियों का एक हस्तलिखित मासिक पत्र उनके सामने पेश किया।

साहब ने पूछा—'ये सब लेख इन छात्रों के ही हैं?'

'जी हाँ।'

'ये एक-दो कवितायें हैं, सो भी?'

'जी हाँ। अभी-अभी मेरे कुछ छात्र कविता लिखने की कोशिश करने लगे हैं।'

'लेकिन उनकी कविता को तुम सुधारते भी हो या नहीं?'

'नहीं, अभी तक तो ऐसा नहीं किया है। जैसी लिखी हैं, वैसी ही प्रकाशित भी की गई हैं।'

'और, लड़के यह सब अपनी इच्छा से लिखते हैं, या कहीं से उद्धृत करते हैं, या तुम इन्हें बतलाते हो?'

'उद्धृत करने से मतलब? मैं तो उन्हें कहता हूँ कि जो चाहो, लिखो। जो सूझे, लिखो। सब लिखा जा सकता है, और जो लिखो, प्रकाशित करो। उन्हें सब के लेख पसन्द पड़ते हैं और मैं सब प्रकाशित भी कर देता हूँ।'

साहब—'यह अंक तो खासतौर पर छःमाही परीक्षा के लिए तैयार कराया होगा?'

मैं—'जी नहीं। पिछले तीन महीनों से हर महीने यह काम होता है। हाँ, इस अंक को छःमाही परीक्षा में रखा ज़रूर है; लेकिन यह खास परीक्षा के लिए तैयार नहीं किया गया था।'

साहब ने प्रसन्नता-पूर्वक सिर हिलाया और कहा—'बहुत ही सुन्दर काम है।' मेरी तरफ देखकर बोले—'भई, तुम विलक्षण काम करके दिखलाते हो! छः महीनों में कहाँ से कहाँ पहुँच गये!'

प्रधानाध्यापक ने धीरे से कहा—'अब गणित, भूगोल, और इतिहास की परीक्षा कब होगी? हम सब दोपहर को हाज़िर रहें?'

शायद प्रधानाध्यापक यह कहकर मुझ पर कटाक्ष किया चाहते थे। मैंने अभी गणित और भूगोल में कुछ भी नहीं किया

है—प्रधानाध्यापकजी को इसका पता चल गया था। मैंने कहा—'जी, भूगोल और गणित में मैं अभी कुछ नहीं कर सका हूँ; लेकिन बारहवें महीने तक यह काम भी करके दिखा दूँगा। इतिहास में कुछ थोड़ा काम हुआ है।'

प्रधानाध्यापक—'ओहो! तो यह कहिये न अभी बड़े-बड़े विषय तो रह ही गये हैं!'

साहब—'प्रधानाध्यापकजी! वे तो आपकी दृष्टि से रहे हैं; इन महाशय की दृष्टि से नहीं। आपके विचार में तो इतिहास, भूगोल, गणित और पहाड़ों में ही सारी पढ़ाई समा जाती है। क्यों साहब, यही बात है न?'

साहब को जरा मौज में देखकर प्रधानाध्यापक ने जवाब में कहा—'लेकिन साहब, आपकी दृष्टि भी तो ऐसी ही है। आप भी इन्हीं विषयों में हमसे परिणाम चाहते हैं।

सब परस्पर विनोद करते हुए उठे। मेरी कक्षा की छःमाही परीक्षा पूरी हुई। जाते समय साहब ने मुझ से कहा—'तुम्हारा परीक्षा-पत्र कहाँ है?'

मैं बोला—'जी, वह तो तैयार ही नहीं किया गया।'

साहब—'अच्छा, तो तुम्हारी कक्षा परीक्षा से मुक्त की जाती है।'

□

चौथा खण्ड

अन्तिम सम्मेलन

: १ :

छःमाही परीक्षा समाप्त हो चुकी थी। अपनी पाठशाला के शिक्षक भाइयों के साथ बैठा एक दिन मैं बातचीत कर रहा था कि चन्द्रशंकर ने कहा—'सच कहता हूँ, मुझे तो आप एक अजीब आदमी मालूम पड़ते हैं। मैं मानता हूँ कि आपका प्रयोग सफल हुआ है। हमें विश्वास न होता था कि प्राथमिक शाला की पढ़ाई में भी कुछ सुन्दर परिवर्तन किये जा सकते हैं।'

भद्रशंकर बोले—'भई, यह तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे हैं न? अंग्रेजी किताबें पढ़ते हैं और नये-नये प्रयोग करते हैं।'

चम्पकलाल ने कहा—'सो तो करते ही हैं; लेकिन सब ऐसा नहीं कर सकते। इन्हें न रुपये-पैसों की चिन्ता है, न परिणाम की परवाह। प्रयोग असफल भी रहें, तो इन्हें कौन सजा भुगतनी पड़ती है?'

वेणीलाल कहने लगे—'भैया, प्रयोग करें कैसे? फुरसत तो मिलती ही नहीं। इतनी सारी बातें सोचने और यह सब तैयारी करने के लिए समय किसके पास है? हम करें भी तो क्या? ट्यूशन हमें करनी पड़ती है, शाम को रोज बड़े साहब के घर

हाज़िरी हमें देनी पड़ती है, घर के बाल-बच्चों की हिफ़ाज़त और जात-जमात में शिरक़त हमें करनी पड़ती है। इतना सब करने के बाद कम्बख़्त वक्त ही कहाँ रहता है कि कुछ करें ? ये तो अकेले हैं; फक्कड़ हैं; ये ही ऐसा कर सकते हैं।

अन्त में मैंने कहा—'भाइयो ! हम अपनी प्राथमिक पाठशालाओं में इससे भी अधिक काम कर सकते हैं; इतना काम कर सकते हैं कि वर्त्तमान प्राथमिक शिक्षा का रूप ही बदल जाये; काया पलट ही हो जाये। लेकिन बात यह है कि इसके लिए काम करने वालों की ज़रूरत है। दुनिया की जो सूरत आज है, वह पहले नहीं थी—सूरत बदलने का यह काम मनुष्यों ही ने तो किया है न ? आवश्यकता है लगन की, प्रखर आत्मविश्वास की, अखण्ड एक-निष्ठा की। यह जरूरी नहीं है कि अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे ही अच्छे प्रयोग कर सकें। यह तो थोथी बात है। जब आदमी कुछ करना नहीं चाहता, तब ऐसे ही बहाने बनाता है। सच्ची चीज़ तो दिल की लगन है, वह लगन, जो किसी चीज़ के लिए तड़पने वाली हमारी आत्मा से हमें प्राप्त होती है। और चम्पकलालजी ! परिणाम की चिन्ता तो प्रयोग करने वाले को जितनी होती है, उतनी दूसरों को कभी हो ही नहीं सकती। आप वेतन-वृद्धि की इच्छा से अच्छे परिणाम की चेष्टा करते हैं और मैं प्रयोग के लिए प्रयोग करता हूँ, जिससे मेरा उद्देश्य सिद्ध हो और कार्यक्षेत्र व्यापक बने। मुझे चिन्ता रहती है कि कहीं मेरी निष्फलता मेरे बाद के प्रयोग-कर्त्ताओं के लिए बाधक न बन जाये ! और भाई वेणीलालजी ! जात-जमात में जाने-आने और गप्पें हाँकने के लिए कोई फ़ुरसत चाहता भी है ? ये भी कोई काम में काम हैं ? और बड़े साहब के घर रोज़-रोज़ जाने की ज़रूरत ही क्या है ? आप अच्छा काम करके दिखाइये। वे अपने-आप ख़ुश हो जायँगे।

ख़ुशामद से कोई ख़ुश होता भी है ? ख़ुशामद तो वे करते हैं, जो काम करना नहीं जानते। यदि पाठशालाओं में हम अपने छात्रों को अच्छी तरह पढ़ाएं, तो किसी को ट्यूशन की ज़रूरत ही क्यों रहे ? हम नहीं पढ़ाते, इसी से तो ट्यूशन की आवश्यकता पड़ती है।'

शिवशंकर बात काटते हुए बोले—'लेकिन भाई, जिन्हें वेतन ही कम मिलता है, उनका क्या ? आप तो मुँह-माँगा वेतन पाते हैं और हमारा तो गुज़ारा भी नहीं हो पाता।'

मैंने कहा—'आप ज्यादा वेतन माँगिये, आपको मिलेगा।'

विश्वनाथ ने कहा—'जी-हाँ, वेतन तो नहीं मिलेगा, नौकरी से रुखसत ज़रूर मिल जायेगी।'

मैंने कहा—'यदि सब शिक्षक मिलकर अधिक वेतन की माँग पेश करें, तो देखें कि कितनों को रुख़सत मिलती है। और मैं तो यह कहता हूँ कि रुखसत मिलने से पहले आप ही अलग क्यों नहीं हो जाते ? आप लोग ज़रा लापरवाह (अनासक्त) रहना सीखिये। मेरी सफलता का एक कारण यह भी है कि मैं लापरवाह रहता हूँ।'

भद्रशंकर ने कहा—'और फिर पेट-पूजा किस तरह होगी ?'

मैं बोला—'पेट-पूजा ? जिसने दाँत दिये हैं, वह चून भी देता है। हममें थोड़ी हिम्मत चाहिए। धन्धों की कौन कमी है ? मैं तो झाड़ू लगाकर भी पेट भरना पसन्द करूँगा, आपकी तरह आधा पेट रहना मुझसे सहन न होगा। आप लोगों के वेतन भी कोई वेतन हैं ?'

विश्वनाथ बोले—'अजी साहब, एक जगह खाली होती है, तो एक सौ उस पर टूट पड़ते। आपको कुछ पता भी है ?'

मैंने कहा—'हम उन टूट पड़ने वालों का विरोध करें। हम उन्हें अपना 'चार्ज' देंगे, तभी न वे काम कर सकेंगे? और हम नये आदमियों को अपना 'चार्ज' लेने भी क्यों देंगे? हम मदरसे के चारों ओर चौबीसों घण्टे पहरा देना क़बूल कर सकते हैं, पर जिस गड्ढे में हम पड़े हुए हैं, उसमें दूसरों को कैसे गिरने दे सकते हैं? उनके पैरों पड़कर हम तो उन्हें समझाएंगे कि महाशय, आप लौट जाइये, कोई दूसरा धन्धा ढूँढ लीजिये। इस मरभुक्खे धन्धे में न फँसिये, इस खुशामद-खाने में न आइये, इस 'एहदी-खाने' से दूर रहिये!'

फिर तो घंटों तरह-तरह की चर्चा होती रही। आज मैंने देखा कि मेरे साथी शिक्षकों में कुछ नया उत्साह-सा आया था। मैंने सोचा, चलो पुराने ढर्रे की गुलामी की जड़ें कुछ तो ढीली हुईं!

: २ :

अब मैं भूगोल सिखाने का विचार करने लगा। मैंने भूगोल की पाठ्यपुस्तक देखी और निराशा से एक ओर रख दी। पाठ्य-क्रम पढ़कर मन को कुछ ठेस-सी लगी। लड़कों को नदियों और पहाड़ों के नाम व्यर्थ क्यों रटायें जायें? खुद मुझे भी ये सब कहाँ याद हैं? कल स्वयं डिप्टी डायरेक्टर महोदय भी नक्शे में ऑस्ट्रेलिया का रास्ता ढूँढ़ रहे थे। बचपन में रटा हुआ भूगोल किसे याद रहता है? मैंने सोचा, यह भूगोल मैं पढ़ाऊँ ही नहीं तो? खुद मुझे भी सच्चा भूगोल तो तभी समझ में आया, जब मैं अफ्रीका गया। उसके बाद ही मेरी भौगोलिक आँख खुली। आज मुझे भूगोल से बहुत ही दिलचस्पी है। भूगोल मुझे अत्यन्त उपयोगी मालूम होता है। लेकिन इन विद्यार्थियों को यह सब

अभी से क्यों समझाऊँ और क्यों पढ़ाऊँ? इस पाठ्यक्रम के अनुसार तो मैं चल ही नहीं सकता। यह पाठ्यपुस्तक देखकर तो मुझे हँसी ही आती है। तो क्या डायरेक्टर साहब से मिलूँ? मेरी अपनी रीति से विद्यार्थियों में भौगोलिक रुचि और दृष्टि उत्पन्न करने की अनुमति उनसे ले लूँ?

मैं डिप्टी डायरेक्टर साहब के पास गया।

साहब ने पूछा—'कहिये, आज कैसे?'

मैंने कहा—'जी, पाठ्यक्रम से भूगोल का विषय हटा ही क्यों न दिया जाय?'

'यह तो नहीं हो सकता। पाठ्यक्रम में भूगोल बहुत ही महत्त्व का विषय है। इतिहास की अपेक्षा भी आज भूगोल काम की वस्तु है। हमारे प्रयोग में विषय छोड़ देने की बात नहीं है। अच्छी तरह विषय पढ़ा देने की बात है। तुम चाहे जिस रीति से पढ़ाओ, लेकिन दूसरे शिक्षकों को यह विश्वास करा दो कि भूगोल एक सरल विषय है और अच्छी तरह पढ़ाया जा सकता है। मेरे लिए तुम्हारे प्रयोग का महत्त्व इसी बात में है।'

डायरेक्टर सहब ने बड़ी कुशलता से मेरा मुँह बन्द कर दिया। फिर भी मैंने कहा—'जी, पर यह पाठ्य-पुस्तक और पाठ्यक्रम तो मैं नहीं स्वीकार करूँगा। मैं अपने ढंग से भूगोल सिखाऊँगा। आशा है, आपको उससे निराशा न होगी।'

साहब ने कहा—'मैं भी यही चाहता हूँ।'

कुछ देर बाद उन्होंने एक दूसरा सवाल पूछा—'लक्ष्मीशंकर! तुम्हारा क्या खयाल है, इन परीक्षाओं के सम्बन्ध में तुम क्या सोचते हो? नवीन शिक्षण के हिमायती तो परीक्षा का एकान्त विरोध करते हैं और इसकी बुराइयाँ वास्तव में भयंकर हैं भी।

पर हमें तो शिक्षा विभाग चलाना है। हम परीक्षा को कैसे हटा सकते हैं ? हमें परिणाम की भी आवश्यकता है। और, हम परीक्षा न लें, तो संभव है, शिक्षक मन लगाकर पढ़ाना ही छोड़ दें। यदि प्रामाणिक शिक्षक पढ़ाता रहे, तो भी वह पढ़ाना जानता है या नहीं, परीक्षा के अभाव में हमें इसका पता कैसे चलेगा ? और इस सब के अलावा, यह जानने का भी कोई तरीक़ा तो होना ही चाहिए कि विद्यार्थी ने पढ़ने में कुछ तरक्की की है या नहीं ? इस कठिन समस्या के सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है ?'

मैंने कहा—'जी, आपकी समस्या वास्तविक है। जब तक चाहे जो विद्यार्थी पढ़ता है और चाहे जो शिक्षक पढ़ाता है, तब तक परीक्षा की आवश्यकता भी रहेगी। परीक्षा हटाई तो तभी जा सकती है, जब विद्यार्थी दिल की उमंग के वश होकर पढ़ने आए और सामने से पढ़ाने में कुशल, कलाकार शिक्षक पढ़ाने की उमंग से पढ़ाने बैठे। लेकिन आजकल की इस 'भड़ैती' स्थिति में तो परीक्षा के प्रवेश की पूरी गुँजाइश है।'

डायरेक्टर साहब ने कहा—'तो भई, मैं इस सम्बन्ध में कुछ सुधार किया चाहता हूँ।'

मैंने कहा—'आज आप केवल छःमाही और सालाना परीक्षा लेते हैं, इसके बदले मासिक परीक्षा लेना शुरू कीजिये। यदि विद्यार्थी के लिए परीक्षा की कसौटी पर कसा जाना आवश्यक ही है, तो परीक्षा का जितना विशेष परिचय उसे होगा, उसका त्रास उतना ही घटेगा। अति परिचय से त्रास भी सह्य बन जाता है। दूसरे, परीक्षा होशियार विद्यार्थियों की प्रगति को मापने के लिए नहीं, बल्कि कच्चे और कमज़ोर विद्यार्थियों को जगाने के लिए, उनकी कमज़ोरी का ठीक पता लगाने के लिए ली जाये। दृष्टि-बिन्दु का यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। तीसरे, जिन

विद्यार्थियों को विश्वास हो कि वे अपने विषय को जानते हैं, उन्हें परीक्षा से मुक्त रक्खा जाये। विद्यार्थी स्वेच्छा से अपनी कमज़ोरी जँचवाने लिए परीक्षा दें और उन्हें हम यह समझा दें कि जो अपनी कमजोरी की जाँच नहीं करता, उसे कमज़ोरी दूर करने का मौक़ा नहीं मिलता। परीक्षा उन्हीं विषयों की ली जाये, जो परीक्षा द्वारा जाँचे जा सकते हैं; बाक़ी विषयों को परीक्षा से मुक्त रक्खा जाये। और, परीक्षा के समय विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकें देखकर उत्तर देने की स्वतंत्रता भी दे दी जाये। हम उनसे कह दें कि जो चीज याद न हो, उसे पुस्तक में देख लो और फिर जवाब दो। जो ज़बानी कह न सकें, वे किताब में देखकर समझाएं। जवाब देते समय विद्यार्थी पाठ्यपुस्तक का कैसा उपयोग करता है, इसी में तो उसकी परीक्षा है। इसके अलावा, हम विद्यार्थियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दें—ऊपर के दरजे में चढ़ने लायक, नालायक, और कमजोर, जो आगे पक्के बनकर चढ़ने लायक हैं। पहले नंबर पास और दूसरे नंबर पास का रिवाज ही मिटा दिया जाये।'

डायरेक्टर साहब बात काट कर बोले—'तो भई, अगले साल मुझे तुम्हें अपना सहायक बनाना होगा।'

मैं मुस्कराया और आगे कहना शुरू किया—'और, परीक्षा शिक्षकों द्वारा ही ली जानी चाहिए। वे ही अपने विद्यार्थियों की शक्ति को अधिक जान सकते हैं। उनकी अशक्ति के कारणों से भी वे परिचित रहते हैं और ऊपर के दरजे में चल सकेंगे या नहीं, इसे भी वे ही बता सकते हैं। हाँ, एक सहायक की आवश्यकता तो है; विद्यार्थियों की परीक्षा लेने के लिए नहीं, बल्कि परीक्षक की परीक्षा लेने के लिए, यह देखने के लिए कि परीक्षक बराबर परीक्षा लेना जानता है या नहीं।'

डायरेक्टर—'यह और एक अनोखी बात तुमने सुझाई ।'

मैंने कहा—'जी-हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है ।'

परीक्षा के सम्बन्ध में मुझे कुछ और भी कहना था, लेकिन साहब के भोजन का समय हो चुका था और वे उठ खड़े हुए थे । अन्त में हँसते-हँसते वे कहने लगे—'अच्छा, तो इस सम्बन्ध में हम एक बार और विचार करेंगे । अब एक दफ़ा सब शिक्षकों के सामने तुम इस पर एक भाषण भी दो ।'

मैंने उन्हें नमस्कार किया और मन में यह गुनगुनाता हुआ चल दिया कि सिर्फ़ भाषण सुनकर सुधरने वाले शिक्षक हैं कहाँ ? परीक्षा के मोह से उन्हें मुक्त करना बहुत मुश्किल है । फिर भी अगर किसी तरह यह सम्भव है, तो सिर्फ डायरेक्टर साहब की आज्ञा से सम्भव है । लेकिन वे बेचारे तो……।'

: ३ :

चौथी कक्षा के लड़के भूगोल के नाम और विषय से कुछ परिचित थे । मैंने नक्शे मँगाये और काठियावाड़, गुजरात और बम्बई इलाक़े के नक्शे दीवार पर टाँगे । लड़कों को आश्चर्य-सा हुआ । आज दिन तक मैंने उन्हें भूगोल पढ़ाया ही नहीं था । वे अपनी नोट-बुकों में से काग़ज फाग़ज फाड़ने और उसकी नलियाँ बनाकर छोटी अँगुलियों पर चढ़ाने लगे । मैं देखता रहा ।

मैंने पूछा—'तुमने ये नलियाँ क्यों बनाईं ?'

लड़कों ने कहा—'साहब, नक्शा घोखने के लिए ।'

मैं चौंक पड़ा—'नक्शा भी घोखा जाता है ! भूगोल शिक्षण ने तो गजब कर डाला !' कुछ देर के मनोरंजन के लिए मैंने लड़कों से कहा—'भला, भावनगर तो दिखाओ ।'

एक लड़के ने बम्बई प्रान्त के नक्शे पर चौतरफ़ा नजर दौड़ाई । बंबई पढ़ा, अहमदाबाद पढ़ा, हैदराबाद पढ़ा और नीचे उतरकर पूना पढ़ा; फिर इस तरफ़ आकर पोरबन्दर पढ़ा; पीछे खड़े हुए दो-तीन लड़कों ने भावनगर खोज रक्खा था । उनकी नलियाँ भावनगर दिखाने को अधीर हो रही थीं । आख़िर एक ने बिना पूछे भावनगर दिखा ही तो दिया ।

मैंने पूछा—'भावनगर किस दिशा में है ?'

लड़कों ने ऊँचे, नीचे, दायें, बायें देखकर मन में कुछ हिसाब-सा गिना और कहा—'जी, उत्तर में ।'

दूसरा लड़का बोला—'उत्तर तो ऊपर की ओर है, यह तो पूर्व कहलाता है ।

मैं हँस पड़ा । मैंने कहा—'ऊपर तो आकाश है; वहाँ उत्तर कहाँ है ?'

लड़के बोले—'जी, नहीं । ऊपर उत्तर और नीचे दक्षिण ।'

दूसरा लड़का बोला—'जी, उत्तर-दक्षिण लम्बा और पूरब पश्चिम चौड़ा ।'

तीसरा बोला—'जी, सूरज उगता है, उस तरफ़ पूरब ।'

मैंने कहा—'दिखाओ, इस नक्शे में सूरज कहाँ हैं ? '

सब सोच में पड़ गये ।

मैंने पूछा—'शत्रुञ्जय नदी दिखाओ ।'

लड़कों ने नली से नदी दिखा दी ।

मैंने पूछा—'यह किसमें मिलती है ?'

नक्शे में पढ़कर लड़कों ने जवाब दिया—'खम्भात की खाड़ी में ।

मैंने पूछा—इधर अरब समुद्र में क्यों नहीं मिलती ?'

एक लड़के ने कहा—'जी, यह तो उसकी मर्जी। उसे खम्भात की खाड़ी में ही मिलना होगा।'

मैंने पूछा—'यह नदी यों निचाई में क्यों मिलती है।'

'लड़का बोला—'जी, ऐसे ही तो वहेगी ! देखिये न, दक्षिण इधर नीचे की तरफ ही तो है ?'

मुझे ताज्जुब हुआ। पिछले साल पढ़ा हुआ भूगोल वे भूले न थे। सफल रटाई का यह एक उदाहरण था। इस साल भी मैं इसी तरह सिखा सकता था। लेकिन वह कोई भूगोल की शिक्षा होती ? मैंने लड़कों से कहा—'नक्शे बन्द कर दो। एक महीने के बाद हम भूगोल शुरू करेंगे। अभी कुछ दिन तो तुम चित्र बनाओ।'

लड़के मेरे सामने देखने लगे। चित्रों का विषय शाला में नया ही था। पाठ्यक्रम में उसे स्थान भी न था। शाला में ऐसी एक भी सृजनात्मक प्रवृत्ति को जगह न थी। लेकिन मुझे ऐसी एकाध प्रवृत्ति आरम्भ करनी थी।

दूसरे दिन मैंने लड़कों से कहा—'देखो, तुम चित्र बनाओ; जो चाहो, बनाओ; जैसे चाहो बनाओ; जैसे आए, बनाओ। देख-देखकर बनाओ, नकल करके बनाओ, याद करके बनाओ चाहे जैसे बनाओ। आदमी बनाओ, ढोर बनाओ, पक्षी बनाओ, पतिंगे बनाओ, पेड़ बनाओ, फूल बनाओ, आकाश बनाओ, घर बनाओ, पदार्थ बनाओ, नक्शे बनाओ, जो चाहो, बनाओ !'

बस, पट्टी पर क़लम से चित्र बनने लगे ! बांके-टेढ़े, जैसे-तैसे, कई प्रकार के चित्र बनने लगे। सुबह का सारा समय चित्रों में बीत गया। घण्टी बजी, तब सबकी आंखें खुलीं। कक्षा का समय पूरा हो चुका था।

मैंने लड़कों से कहा—'जिनके माता-पिता पेंसिल और काग़ज दें, वे कॉपी पर चित्र बनाएं। बाक़ी सब पट्टी पर।'

दो-चार दिन इसी तरह बीत गये। इस बीच अनेक चित्र बन गए—ऐसे कि जिन्हें चित्रकार फूटी आंखों भी न देखें। फिर भी वे चित्र विद्यार्थियों की अपनी कल्पना के, उनकी अपनी शक्ति के परिणाम थे।

मैंने सोचा—'इन चित्रों का हिसाब और संग्रह रहना चाहिए। कुछ कष्ट उठाकर साहब से मिला। एक ओर से कोरे रद्दी काग़ज निकलवाये और साहब से दो दर्जन रंगीन पेंसिलें ली। साहब ने हँसते-हंसते कहा—'फिर पढ़ाई को एक ओर रखकर तुमने चित्रों का यह नया विषय निकाला मालूम पड़ता है !'

हर एक विद्यार्थी से चित्र के विषय के अनुसार एक एक कॉपी बनवाई और विषयक्रम के अनुसार उसमें चित्र बनाने को कहा। चित्रों के वातावरण के रूप में मैंने नीम की सलियाँ, पीपल के पत्ते, तुलसी की मंजरी और बारहमासी और अकाव के फूल रक्खे। व्यापारी की दूकान से तरह-तरह की छपी हुई किनारों के टुकड़े नमूनों के लिए लाकर रक्खे। अपने कुछ मित्रों के घर से दो-चार अच्छे चित्र लाकर कक्षा में टाँग दिये। सदा उपयोग में आने वाली अनेक चीज़ें, जैसे, दावात, क़लम, डिब्बी, पेटी, वग़ैरा सजाकर तरतीब से रक्खीं। एक तख्ते पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा—'चित्र बनाओ, चित्र बनाओ, चित्र बनाओ ! अपने आप बनाओ। तुम चित्र बनाना जानते हो। रोज़-रोज अच्छे-अच्छे चित्र बनते जाते हैं। चित्र बनाओ !'

लड़के चित्रों के पीछे ऐसे पड़े कि खूब हो पड़े। कुछ ने तो छपाई और बेलबूटे का काम असल की तरह करके दिया। किसी ने फूलों के रंग-जैसा ही रंग अपने फूलों में भरा। कोई चित्र बनाता

ही न था, तो कुछ दूसरे बैठे बैठे यही देख रहे थे कि चित्र किस तरह बनाये जा रहे हैं।

एक पखवाड़े के बाद मैं हाई-स्कूल के एक चित्र-शिक्षक को बुला लाया। मैंने उनसे कहा—'आपको चित्र बनाना सिखाने की आवश्यकता नहीं है। तख्ते पर आप अपनी रुचि के चित्र बनाते चलिये। पर धीमे-धीमे और ज़रा सफ़ाई के साथ बनाइयेगा। पेड़ देखकर पेड़ बना दीजिए, कुर्सी देखकर कुर्सी बना दीजिए।' चित्र-शिक्षक ने ऐसा ही किया और विद्यार्थी तल्लीन होकर देखते रहे। दूसरे दिन चित्रों का काम और भी जमा। ऐसा जान पड़ता था, मानो विद्यार्थियों ने चित्र बनाने के नियमों को विशेष रूप से समझ लिया है। इसके बाद मैंने उनके चित्रों के नीचे तारीख और नाम लिखवाना शुरू किया।

कुछ दिन और बीतने के बाद उन चित्रकार सज्जन को फिर बुलाया और उनसे मैंने छात्रों को यह समझाने की प्रार्थना की कि रेखाचित्रों या आलेखन-चित्रों में रंग कैसे भरा जाता है। चित्रकार ने एक, दो, तीन, चार, पांच, इस प्रकार कुछ चित्रों में सफ़ाई के साथ पेंसिल से रंग पूरकर दिखा दिया। विद्यार्थियों को रंग पूरने की एक नई तरकीब हाथ लग गई।

थोड़े दिनों बाद मैंने अपने एक सर्वेयर मित्र को बुलाया और उन्हें पाठशाला को मापकर उसका नक्शा बना देने को कहा। मैं और मेरे मित्र पाठशाला का 'प्लैन' मापते थे और लड़के हमारे साथ-साथ घूमते थे। लड़कों की आंखों के सामने हमने उन्हें क़ाग़ज पर मकान का नक्शा खींचकर दिखाया। दो-चार दिन तक मैंने लड़कों को सर्वेयर के ऑफिस में भेजा और वहां उन्हें यह समझाया गया कि नक्शे-नवीस लोग गलियों के, गांव के और डांड वगैरा के नक्शे किस प्रकार बनाते हैं। एक-

बार दो लड़कों को पैमाइशवालों के साथ गांव की सरहद पर ले गया और उन्हें प्रत्यक्ष पैमाइश का काम दिखाया। इस प्रकार अब लड़के मदरसे का, कमरे का, अपने घर का, गली का और कभी-कभी कुएं और तालाब का भी चित्र बनाने लगे। उनकी चित्र-कला को बढ़ाने के लिए मैं कभी-कभी उन्हें कुदरत में घुमाने के लिए भी ले जाता था। आंखों को किसी वस्तु के आकलन का अभ्यास कराने के लिए मैं उन्हें तरह-तरह के खेल खेलाता था—जैसे, किसी पेड पर दृष्टि डालते ही उसके तने और डालियों आदि को देखकर या आंखें बन्द रख कर उन्हें काग़ज पर बना लेना; सूर्योदय के समय के रंगों को निरखकर उन्हें ध्यान में रखना; सायंकाल के बदलते हुए रंगों की खूबियां देखना; इस बात का स्वानुभव प्राप्त करना कि दूर से पेड़ कैसा दीखता है और पास से कैसा; पेड़, पदार्थ, पर्वत, मनुष्य और उनकी छाया के प्रकारों को ध्यानपूर्वक देखना, आदि-आदि। इस प्रकार कुछ ही दिनों में मेरी कक्षा में चित्रकला का काम चल निकला।

: ४ :

एक दिन हाई स्कूल से मैं एक दूरबीन (बाइनॉक्यूलर) ले आया। लड़कों को मैंने उसमें दिखाया कि दूर की चीज़ें किस प्रकार नज़दीक दिखाई देती हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। सारा दिन बारी-बारी से वे दूरबीन को आंख पर लगाये ही रहे। रात मैं ग्रहों और तारों को देखने का एक 'टेलिस्कोप' ले आया। मेरे मित्र कहने लगे—'भई, तुम बड़े ही उद्योगी हो!'

मेरे साथी शिक्षक तो अब बहुधा ऐसे सब अवसरों पर मेरे साथ ही रहते थे। मेरी निन्दा छोड़कर मुझसे कुछ सीखने को वे अभिमुख हुए थे। डायरेक्टर साहब ने उनकी सम्मति से यह

ठहरा दिया था कि सप्ताह में एक एक घण्टा सब मेरी कक्षा में आकर देखा करें कि मैं किस तरह काम करता हूं।

शाम को मैंने अपने विद्यार्थियों को चन्द्रमा और तारे दिखाये। देखते ही वे 'अहाहाहा!' पुकार उठे!

चन्द्रमा दिखाते हुए मैंने कहना शुरू किया—'देखो, चन्द्रमा में वह जो चर्खा चलाती हुई बुढ़िया और बकरी दिखाई पड़ती है, सो चन्द्रमा पर की बड़ी-बड़ी खाइयां और पर्वत हैं; वहां इतनी ज्यादा सर्दी पड़ती है कि मनुष्य बिलकुल जी ही नहीं सकते।' लड़के मेरा मुंह ताकने लगे।

मैंने कहा—'हम जिस धरती पर रहते हैं, वह और चन्द्रमा दोनों बहनें हैं और सूर्य इनका पिता है।'

विद्यार्थी अचम्भे में आकर मेरी तरफ देखने लगे।

एक ने पूछा—'यह कहानी किस किताब में लिखी है?'

मैंने कहा—'यह कहानी नहीं, सच्ची बात है।'

लड़के बोले—'हो नहीं सकती!'

मैंने कहा—'भई, ऐसा ही है।'

और इसी सिलसिले में मैंने यह बताना शुरू किया कि सूर्य से पृथ्वी कैसे निकली। और फिर तो बात का रंग जमा और दिन-पर-दिन बीते। इस दरम्यान मैंने उन्हें बताया कि पृथ्वी की सतह ठण्डी कैसे हुई, गड्ढे, टीले, खाई और पर्वत कैसे बने, सरोवर और नदियां कैसे बनीं, शैवाल, जलजन्तु, मछली, मेंढ़क, जल-थल के प्राणी, जंगल और जंगली मनुष्य और उनसे धीरे-धीरे आज के मनुष्य कैसे बने? ये बातें बड़ी अद्भुत थीं। लड़के अत्यन्त एकाग्रता से इन्हें सुनते थे। हमारे प्रधानाध्यापक सातवीं कक्षा के छात्रों को भी यह सब सुनने को भेजने लगे!

एक दिन मैं पृथ्वी का गोला ले आया और कहा—'देखो, मैं तुम्हें समझा चुका हूँ कि ये सारी चीज़ें इस पर कैसे बनीं।'

मैंने छात्रों को समझाया कि पानी और ज़मीन कहां हैं, काले और गोरे लोग कहाँ रहते हैं, पीले और लाल लोग कहाँ रहते हैं, ठिगने-बौने और ऊँचे लोग कहाँ रहते हैं। इसके बाद मैंने पृथ्वी के प्राकृतिक विभाग और उनके नाम बताये। फिर यह बताया कि हम एशिया में हैं। एशिया में यह जो दिखता है, सो हिन्दुस्तान है। हिन्दुस्तान में यह काठी लोगों का प्रदेश काठियावाड़ है। और, फिर यह बताया कि हम यहां भावनगर में रहते हैं।

मैंने लड़कों से कहा—'यह गोला लो, और उस सन्दूक में से वे नक्शे निकाल लो। फिर यह ढूंढ़ो कि इस गोले पर ये नक्शे कहाँ-कहाँ मिलते हैं।'

मैं लड़कों को रोज़ कुछ-न-कुछ नई बात देखने को कहने लगा। मैंने कहा—'तुमने आज तक जो-जो गांव और शहर देखे हों, उन्हें ढूंढ़ निकालो। यह भी देखो कि वहां किस रास्ते जाया जाता है? रास्ते में कौन-कौनसी नदियां आती हैं और कौन-कौनसे गांव आते हैं।'

यह एक रीति हुई। दूसरी ओर, मैं अफ्रीका देख चुका था, इसलिए अफ्रीका का नक्शा सामने रखकर मैं उन्हें अफ्रीका की बातें सुनाने लगा। मैंने विक्टोरिया नियाज़ा, टांगानीका, ज़ांबेसी और नाइल की, अफ्रीका के सिंहों और हाथियों की, वहां के बाशिन्दों, मस्साई और कोवीरोण्डों की बातें कहीं। फिर एक दिन मैंने कहा—'ये हमारे आस-पास जो कोली, कुम्हार, अहीर, गडरिया वग़ैरा लोग रहते हैं, इन्हें तो ज़रा देख आओ। और यह कहकर इस दृष्टि से उनके साथ मैंने एक-दो यात्राएं अपने गांव की

डाँड़ की, नदी-किनारे की ओर पहाड़ों की और उनमें भूतल के अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न की।

इसके बाद मैंने उनके लिए भूगोल-सम्बन्धी एक वाचनालय कायम करने का विचार किया, लेकिन यात्रा-वर्णन की वैसी सुन्दर पुस्तकें हमारी भाषा में नहीं मिलीं। जो मिलीं, वे ही उन्हें देकर कहा—'पुस्तक पढ़ते जाओ और नक्शा देखते जाओ। यात्री कहां से कहां जाता है, देखो और उसके साथ घूमो।'

विद्यार्थी यात्रा-वर्णन की किताबें पढ़ना पसद करते हैं। एक-दो विद्यार्थियों को 'काठियावाड़-सर्व-संग्रह' में बड़ा आनन्द आया। नक्शे पर से एक गांव चुनकर वे सर्व संग्रह में से उसके संबंध की बातें पढ़ने लगे। इस प्रकार कई परिचित और अपरिचित गांवों के विषय में उन्होंने जानकारी हासिल कर ली। श्रीरविशंकर रावल के चित्रों ने उन्हें अहमदाबाद का सुन्दर परिचय करा दिया। हर एक महत्त्वपूर्ण स्थान के ऐसे चित्राधार तैयार मिल सकें, तो क्या ही अच्छा हो? एक दिन श्री रविशंकर जी आये। उनके पास मद्रास के दृश्यों को एक फिल्म थी। मैंने लड़कों वह फिल्म दिखाई। एक ओर जहां सिनेमा नुकसान-देह है, वहां दूसरी ओर वह शिक्षा के एक क़ीमती साधन के रूप में भी खड़ा रहता है। दूर के दृश्यों को हूबहू दिखाने से छात्रों की भौगोलिक दिलचस्पी बढ़ती जाती है। एक बार 'सीजर्स सिगरेट' के कुछ पत्ते मेरे हाथ चढ़ गये। उनमें देश-विदेश के मनुष्यों के चित्र रहते हैं। वे चित्र भी मैंने छात्रों को देखने को दिये। मेरा उद्देश्य उन्हें सारी दुनिया का ज्ञान करा देना न था; मेरा हेतु यह भी न था कि उन्हें कुछ याद रह जाय। मैं तो केवल उनके मन पर ठँसा देना चाहता था कि दुनिया बहुत ही विशाल है, उसमें बहुतेरी बातें देखने और जानने-जैसी हैं और उन्हें देखने के ये-ये साधन हैं। बस, मेरे लिए इतना ही काफ़ी था।

मैंने एक दूसरा खेल भी निकाला था। उसका नाम था, 'चलो, हम यात्रा को चलें।' छात्र भावनगर से अहमदाबाद, द्वारिका, बम्बई, हिमालय, विलायत वग़ैरा को रवाना होते। फिर कैसे रवाना होना, किन-किन गाड़ियों में बैठना, कहाँ-कहाँ गाड़ियाँ बदलनी, कौन-कौन से देखने योग्य स्थान हैं, वहाँ क्या-क्या देखने लायक है, कितने दिनों में यात्रा पूरी होगी, किन-किन से मिलना होगा, क्या-क्या ख़रीदना होगा, आदि बातों का विचार, करते, सचमुच के खर्च का अन्दाजा निकालते और शहरों की 'गाइड' देखकर यात्रा में दर्शनीय स्थानों के नाम नोट करते और भूगोलों से प्रसिद्ध चीजें पढ़-पढ़कर क्या-क्या ख़रीदनी होंगी, सो ठहराते। सचमुच ही यात्रा को निकले हों, इस ढंग से वे सारी बातों का अध्ययन करते। यह अध्ययन मैं भूगोल समझने की रीति के एक नमूने के तौर पर करता था। बाक़ी का काम विद्यार्थियों पर छोड़ देता था। कभी वे नक्शे में इस बात की टोह लगाते कि दियासलाई का बक्स कहाँ से आया है? कभी यहाँ की रूई विलायत जाती है, तो किस-किस रास्ते जाती है, यह जानने के लिए वे कल्पना में रूई की गाँठ पर बैठकर रवाना होते। कभी बाज़ार में घूमने जाते और एक दूकान में कौन-कौन से देश और शहर इकट्ठा हुए हैं, इसका पता लगाते। कभी नदियों के नामों की, तो कभी पहाड़ों के नामों की, कभी देशों के नामों की और कभी शहरों के नामों की, इस प्रकार भौगोलिक वस्तुओं और भौगोलिक नामों की अन्त्याक्षरी का खेल खेलते। चित्रकला में विद्यार्थी जिस प्रकार प्रेम से पेड़ का चित्र बनाते, उसी प्रकार देश-देश के नक़्शे बनाने में भी उन्हें आनन्द आता। वे अपने बनाये हुए नक्शे में अपने देखे हुए, पढ़े हुए या सुने हुए गांवों, नदियों और पहाड़ों को दिखाते और अधिक स्थान दिखाने के लिए भूगोल पढ़-

कर जानते कि नये गांव कहां हैं, किस जगह हैं। इस प्रकार हमारी कक्षा में भूगोल की पढ़ाई चलती थी।

मेरे शिक्षक भाइयों ने एक दिन मुझ से कहा—'भई, यह काम तो बस तुम्हीं कर सकते हो। इतनी सारी बातें हमें तो जानने को भी नहीं मिलतीं। हमें इस प्रकार भूगोल की चर्चा करना भी नहीं आता।'

मैंने कहा—'भाइयो! सब-कुछ आ सकता है। मात्र हमें थोड़ा उद्योग अवश्य करना चाहिए और हम में उत्साह भी होना चाहिए।'

: ५ :

वार्षिक परीक्षा का समय निकट आ रहा था। मैं अपने काम का हिसाब लगाने बैठा। बैठे-बैठे मैं गणित का विचार करने लगा। यह नहीं कि आज दिन तक मैंने गणित को हाथ ही न लगाया हो; लेकिन एसकी चर्चा करने की इच्छा आज हुई। गणित की परीक्षा लेने की दृष्टि से जब मैंने अपनी कक्षा के लड़कों को उदाहरण माला के कुछ सवाल छुड़ाने को दिये, तो सबने सवाल सही-सही छुड़ा दिये। पहले तो मैंने सोचा कि ये सब इसमें पक्के हैं; और यह अच्छा ही रहा कि जिस विषय में मैं कोई विशेष नया काम करके दिखा नहीं सकता था, विद्यार्थियों का वह विषय ठीक था। लेकिन जब मैंने धीरे से गणित के प्रश्नों के मूल में स्थित तर्क की बात छेड़ी, रीति का कारण पूछा, तो मुझे अंधकार के दर्शन हुए। मैंने देखा कि छात्रों को जोड़ गुणा, बाक़ी आदि का ज्ञान है, लेकिन यह ज्ञान नकली और यंत्रवत् है। मैं सोचने लगा, इसका उपाय क्या हो सकता है? मैं असमंजस में पड़ गया। एक तो गणित का विषय मुझे इतना प्रिय न था। दूसरे, उसकी पढ़ाई के दोषों को मैं समझता था, लेकिन उन्हें दूर कैसे किया जाये,

इसकी खोज मैंने नहीं की थी। ऐसे समय मेरे लिए यह एक कठिन प्रश्न-सा हो गया कि मैं क्या करूं? डिप्टी डायरेक्टर साहब के पास गया और उनसे मैंने साफ़-साफ़ कहा—'साहब, गणित के सम्बन्ध में मैं कोई नई बात करके दिखा न सकूंगा। हाँ, लड़कों को भली भांति समझाकर पढ़ा दूंगा और पाठ्यक्रम पूरा करा दूंगा।'

डायरेक्टर साहब बोले—'ऐसा क्यों? क्या गणित की पढ़ाई में सुधार की गुंजाइश नहीं है।'

मैंने कहा—'जी, है तो। लेकिन वह सुधार या परिवर्तन मूल ही में होना चाहिए। बालक को गिनती सिखाने के समय से ही उचित पद्धति बता देनी चाहिए। गणित का विषय ही ऐसा है कि एक बार तर्क से वह मन पर न ठँसा, तो सदा के लिए कमजोर ही रह जाता है।'

डायरेक्टर साहब ने कहा—'लेकिन तुम उन्हें आरम्भ से ही गणित क्यों नहीं सिखाते?'

मैंने कहा—'इसके लिए समय कहाँ है? और समय हो, तो भी इन विद्यार्थियों को, जिन्हें यन्त्रवत् काम करने की आदत पड़ चुकी है, जो गणित में कारण पूछते ही नहीं, गिनते चले जाते हैं, ठीक रास्ते पर लगाना कठिन है—बहुत कठिन है।'

डायरेक्टर ने कहा—'तो फिर इन लड़कों का गणित……।'

मैंने कहा—यों तो मैं भरसक अच्छी तरह सिखा दूंगा। लेकिन मेरे कहने का आशय यह है कि इस विषय में जो कुछ प्रयोग किये जा सकते हैं, उन्हें मैं कर नहीं सकूंगा।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा—'मान लो कि तुम्हें पहली कक्षा ही सौंपी जाये, तो तुम उस पर गणित के प्रयोग करोगे या नहीं?'

मैंने कहा—'आशा तो रखता हूँ कि गणित के प्रयोग में एक-दो की गिनती से ही शुरू करूँ। तभी में विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि देखो, यह रीति अच्छी है। मैं जानता हूँ कि मेरे शिक्षक भाइयों को गणित के सम्बन्ध में किसी-न-किसी पद्धति पर चलने का शौक़ है। अगर अगले साल मुझे प्रयोग करने का सौभाग्य मिला, तो मैं और चन्द्रशंकर इस विषय में अवश्य प्रयोग करेंगे। मैं समझता हूँ कि मोण्टीसोरी-गणित पद्धति अच्छी है। वह स्वाभाविक है, मैंने उसका वाचन और मनन किया है, पर अनुभव अभी नहीं कर पाया हूँ।'

उन्होंने मुझ से पूछा—'अगले साल तुम यहाँ डिप्टी का, अध्यापन मन्दिर के शिक्षक का और गणित के प्रयोगकर्त्ता का स्थान ग्रहण करोगे ?'

मैंने जवाब में कहा—'जी, सो तो जैसी प्रभु की इच्छा हो ! लेकिन इस बार के लिए तो मैं आप से यह कह देता हूँ कि गणित के विषय में मैं कोई खास नई बात नहीं दिखा सकूंगा।'

: ६ :

वार्षिक परीक्षा निकट आई। मैं अपने ढंग से विद्यार्थियों से परीक्षा की तैयारी कराने लगा। विद्यार्थी बड़े उत्साह से तैयार हो रहे थे। मुझे विश्वास था कि मेरे विद्यार्थी परीक्षा में अवश्य सफल होंगे।

परीक्षा का दिन आया। अधिकारी महोदय ने सब कक्षाओं की परीक्षा लिवा ली। आज मेरी कक्षा की बारी थी। हमारी शर्त के अनुसार स्वयं उन्हीं को परीक्षा लेनी थी। उन्होंने हँसकर कहा—'लक्ष्मीशंकर जी, मैं तुम्हारी कक्षा की परीक्षा न लूंगा। तुम्हारी कक्षा के सब छात्रों को मैं ऊपर की कक्षा में चढ़ता हूँ।'

मैंने कहा—'जी नहीं; यह नहीं हो सकेगा। ऐसा करने से मेरे कुछ विद्यार्थियों के साथ न्याय न होगा।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा—'यानी, उनके साथ अन्याय होगा।'

मैंने कहा—'जी-हाँ; जो चढ़ाने लायक नहीं हैं, उन्हें मैं ऊपर नहीं चढ़ा सकता।'

डायरेक्टर बोले—'लेकिन मुझे दीखता है कि तुमने सबको भली भाँति पढ़ाया है और तुम्हारी यह पढ़ाई मुझे मंजूर है।'

मैंने कहा—'जी, आप ठीक कहते हैं; लेकिन मेरी पद्धति का असर सब पर एकसा तो नहीं होता। किसी-किसी छात्र का तो वह स्पर्श तक नहीं कर पाई है। वे कोरे और अछूते ही रह गये हैं।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा—'तो उनके लिए तुमने क्या सोचा है ?'

मैंने कहा—'जी, उनमें से किसी-किसी को तो पाठशाला ही छोड़ देनी चाहिए। राघव नाई का लड़का इतिहास, भूगोल या गणित का जीव नहीं है। वह इस शाला के वातावरण में उद्विग्न रहता है। पर वह इतना चलता-पुर्जा है कि सौ नाइयों का सेठ बनकर हजामत की एक बड़ी-सी दूकान खोल सकता है। उसे हजामत में कुशलता प्राप्त करने और 'सलूनों' की व्यवस्था सीखने के लिए बम्बई भेजना चाहिए।'

डायरेक्टर साहब ने कहा—'अच्छा और कौन-कौन हैं, जो पाठशाला के लिए अयोग्य हैं ?'

मैंने कहा—'जी, वे पाठशाला के लिए अयोग्य नहीं हैं बल्कि पाठशाला उनके लिए अयोग्य है। जिस काम के वे लायक़ हैं, शाला उन्हें वह काम सिखाती नहीं।'

डायरेक्टर साहब बोले—'अच्छा, यों सही। लेकिन ऐसे कौन-कौन हैं ?'

मैंने कहा—'जीवन सेठ का 'नेमी' पुलिस-विभाग के लायक है। उसे अखाड़े में भर्ती कोजिए। सेठजी उसके लिए यात्रा का थोड़ा-बहुत प्रबन्ध कर दें और वह किसी अच्छे फ़ौजदार के पास रहकर थोड़ा कानून पढ़ ले। पांच साल में फक्कड़ जमादार बन जायेगा। अभी से वह आधे मदरसे पर तो जमादारी कर ही रहा है।'

उन्होंने पूछा—'अच्छा, और कौन-कौन कमज़ोर हैं ?'

मैंने कहा—'जी, इस प्रकार के तीन छात्र और कमज़ोर हैं। उन्हें मैं इन छुट्टियों में अपने पास रखूँगा और अगले दरजे के लिए तैयार करूँगा। साहब, हमारी वर्त्तमान पाठशालाओं की रीति-नीति और पाठ्यक्रम की कठोरता का कोई उपाय आप नहीं कीजियेगा ?'

डायरेक्टर साहब ने कहा—'अभी इस विषय को रहने दो, मैं कई बार तुमसे कह चुका हूँ कि इस सम्बन्ध में मेरे हाथ-पैर जकड़े हुए हैं। अच्छा, तो तुम्हारी कक्षा की परीक्षा समाप्त मानी जाये ?'

मैंने कहा—'जी नहीं।'

डायरेक्टर साहब ने विनोद के स्वर में कहा—'मालूम होता है, छःमाही परीक्षा की तरह आज भी तुमने कुछ विशेष प्रबन्ध किया है ! अब तुम्हारी तरकीबें सब जान ली गई हैं।'

: ७ :

आज हमारी पाठशाला का सम्मेलन था। परीक्षा के बाद हर साल ऐसा सम्मेलन होता है। जो विद्यार्थी अच्छे नम्बर से पास होते हैं, उन्हें आज के दिन इनाम दिये जाते हैं। सम्मेलन में

गांव के सेठ, साहूकार और अमलदार सभी हाज़िर थे। साहब ने इस अवसर के लिए कार्यक्रम बनाने का काम मुझे सौंपा था। मैंने यह काम अपने विद्यार्थियों को सौंप दिया। जो कुछ किया था, मेरी सूचना और सलाह से उन्हीं ने किया था।

पहले डण्डों की ताल पर रास-क्रीड़ा शुरू हुई। आध घण्टे तक उन्होंने समा बाँध दिया। फिर शर्तों के खेल चले—दौड़ने की शर्त, लँगड़ी चाल की शर्त, तीन-पैर की शर्त, कुर्सी की शर्त, आदि-आदि। लोग एकटक से खेल देख रहे थे। खेल खतम होने पर मूक अनुकरण का अभिनय हुआ। कोई गाँव के सेठजी की, कोई विद्याधिकारी की, कोई फ़ौजदारी और कोई देश-नेताओं की सुन्दर नक़ल करके दिखा गया। इसके बाद विद्यार्थी अपने बनाये हुए चित्र ले आये और झुक-झुक कर हर एक सज्जन को बारी-बारी से दिखाने लगे। सारा भवन विद्यार्थियों के चित्र देखने में तल्लीन हो गया।

अन्तिम कार्य पारितोषिक-वितरण का था। हर साल १२५) रुपयों का पारितोषिक बाँटा जाता था। ये पारितोषिक विद्यार्थियों को ही मिला करते थे।

अन्त में डायरेक्टर साहब ने खड़े होकर सदा की भाँति दो शब्द कहे। वे बोले :

'सज्जनो ! मेरी राय में आज का यह पारितोषिक-सम्मेलन दूसरे प्रकार का है। मेरी बग़ल में बैठे हुए इन महाशय ने मुझे इनामों के बारे में एक नया सबक़ सिखाया है। इस साल के रु. १२५) का मैं अलग-अलग इनाम नहीं बाँटूँगा, बल्कि इस रक़म से इनके नाम पर पाठशाला में एक वाचनालय की स्थापना होगी। मैंने उच्च अधिकारियों से इस आशय की आज्ञा भी प्राप्त कर ली है। आगे से हर साल इनाम की यह रकम वाचनालय को ही मिला करेगी। आपको यह शुभ समाचार सुनाते हुए मैं बड़े सुख का अनुभव कर रहा हूँ। व्यक्तिगत इनाम देने से विद्यार्थियों में

अभिमान और निराशा पैदा होती है। यह नई व्यवस्था ऐसी है कि इससे इनाम की रकम का फायदा सब उठा सकेंगे। मुझे इनाम की निरर्थकता समझाने वाले और इस सत् प्रयोग का अनुभव कराने वाले इन भाई का मैं यहाँ सार्वजनिक रूप से आभार मानता हूँ।

'इस अवसर पर मैं यह भी बता दूँ कि ये सज्जन एक साल पहले चौथी कक्षा में शिक्षा के प्रयोग करने हेतु से मेरे पास आये थे। मैं उस समय इन्हें एक पढ़ा-लिखा मूर्ख ही समझता था। मैंने यह सोचकर इन्हें आज्ञा दी थी कि इनके-जैसे खब्ती बहुतेरे पड़े हैं, जो कसौटी पर कसे जाने पर भाग होते खड़े हैं। मुझे कहना चाहिये कि मैं इनमें विश्वास नहीं करता था। लेकिन अब मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि इनके प्रयोग बहुत सफल हुए हैं। मेरे विचारों में भी इन्होंने भारी परिवर्तन कर दिया है और अपने अन्तःकरण में मुझे यह ध्वनि सुनाई पड़ रही है कि प्राथमिक पाठशाला के इस पुराने ढर्रे का अब शीघ्र ही अन्त होगा। हमारे-जैसे शिक्षकों और अधिकारियों को अब राजी-खुशी रुखसत लेकर नई पीढ़ी के शिक्षा-शास्त्रियों और कल्पनाशील विचारकों को अपना स्थान सौंप देना चाहिए।

'सज्जनो ! मैं नहीं जानता कि अपने आनन्द को किस प्रकार व्यक्त करूँ ? इनकी कक्षा के इन विद्यार्थियों को देखिये। ये कितने व्यवस्थित, तन्दुरुस्त और आनन्दी हैं ? इनकी शक्ति और बुद्धि के विकास का मैं साक्षी हूँ। इनके सम्बन्ध में इनके माता-पिताओं को भी अपना संतोष व्यक्त करते हुए मैंने बार-बार सुना है।'

डायरेक्टर साहब का भाषण समाप्त होते ही सम्मेलन की कार्रवाई खतम हुई। सब अपने-अपने घर गये।

मैं भी एक वर्ष के अपने सफल प्रयत्नों पर हर्ष मनाता हुआ घर पहुँचा और नवीन शिक्षा के उज्ज्वल भविष्य का मधुर स्वप्न देखने में लीन हो गया।

८-५-३२; अक्षय तृतीया, १

——